ओ३म्

ब्रह्मचर्य के साधन

(सप्तम-अष्टम भाग)

सत्संग-स्वाध्याय

लेखक :

श्री स्वामी ओमानन्द सरस्वती

श्री वेदव्रत शास्त्री

प्रकाशक :

हरयाणा साहित्य संस्थान

गुरुकुल झज्जर, जिला झज्जर

विषय-सूची

सप्तम-भाग

※ सत्सङ्ग ※

अष्टम-भाग

※ स्वाध्याय ※

ब्रह्मचर्य के साधन

सत्संग

[सप्तम भाग]

भूमिका

शुद्ध विचार, सात्त्विक आहार, व्यायाम, प्राणायाम, सत्संग स्वाध्याय तथा ईश्वरभक्ति ; ब्रह्मचर्य पालन करने के लिए इनका श्रद्धा-पूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये । वीर्यरक्षा के ये मुख्य साधन हैं, इनका श्रद्धापूर्वक नियमित रूप से पालन करने वाला व्यक्ति ही ब्रह्मचारी रह सकता है, अन्यथा ब्रह्मचर्य का पालन करना या वीर्यरक्षा कर ऊर्ध्वरेता बन सकना असम्भव है।

पाठकवृन्द ! समय-समय पर उपरिलिखित साधनों पर हम प्रकाश डालते रहे हैं तथा इस प्रस्तुत पुस्तक में भी इन्हीं साधनों में से "सत्संग" और "स्वाध्याय" इन दो साधनों पर विशेष प्रकाश डाला गया है । सामान्य दृष्टि से यह पुस्तक सभी नर-नारियों के लिये अत्युपयोगी है, किन्तु नवयुवक विद्यार्थी, ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मचारिणियों के लिये तो विशेषतया लिखा हो गया है । अतः उनको इसका बार-बार स्वाध्याय कर विशेष लाभ उठाना चाहिये।

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि उत्तम तथा अधम विद्यार्थियों वा सज्जन और दुर्जनों में दलबन्दी(पार्टीबाजी)हो जाया करती है। कुछ भावुक नवयुवक किसी महापुरुष के सत्संग से अथवा उत्तम ग्रन्थों के स्वाध्याय से कल्याण मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर देते है, किन्तु दुष्ट नीच साथियों के दबाव से पुनः उसी पाप-पङ्क में फंस जाते हैं। क्योंकि जब कोई उन्नति करता है, सन्मार्ग पर चलता है तब निकृष्ट व्यक्ति उसकी उन्नति को सहन न कर सकने के कारण उसे पतित करने का यत्न करते हैं। चाणक्य ने कहा है—

मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या निर्धनानां महाधनाः ।
व्रतिनः पापशीलानामसतीनां कुलाङ्गनाः ।।

मूर्ख सदा विद्वानों से, निर्धन धनवानों से, पापी=दुराचारी सदाचारी पुरुषों से और कुलटा=दुश्चरित्र स्त्रियां पतिव्रताओं से सर्वदा द्वेष करती हैं । ये दुरात्मा स्वयं गड्ढे में से निकल नहीं सकते और दूसरे सदाचारी व्यक्तियों की उन्नति भी इन्हें सहन नहीं होती, अत एव सदा जलते-भुनते रहते हैं तथा उनको भी अपने साथ मिलाने का, पतित करने का भरसक प्रयत्न करते हैं । किन्तु पुरुषसिंह वे ही हैं जो इन दुरात्माओं का प्रतिवाद करते हुए अपने लक्ष्य पर पहुंच जाते हैं । धीर वे ही हैं जो आपत्ति काल में भी अडिग रहते हैं, जिनका चित्त विकार उपस्थित होने पर भी अपने लक्ष्य से कभी विचलित नहीं होता । कहा भी है—
"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः"

इसलिये हे कल्याण मार्ग के पथिक ! तू श्रद्धा से, धीरता से, वीरता से अपने पथ पर चलते जाना, सब विघ्न-बाधाओं को छिन्न-भिन्न करते हुए आगे ही आगे बढ़ते जाना, एक दिन तेरे लक्ष्य की पूर्ति अवश्य होगी, आनन्दमय कल्याणकारी प्रभु की प्राप्ति होगी और तू निहाल हो जायेगा, तेरी सम्पूर्ण साधनायें तथा यातनायें सफल हो जायेंगी । किन्तु कहीं मार्ग में भटक न जाना । सुख का मार्ग, प्रभु की प्राप्ति का मार्ग यही है, एकमात्र यही । "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" ।

यदि कुछ नवयुवकों के लिये वा अन्धकार में भटकते हुए कल्याणेच्छुओं के लिए भी इस पुस्तक ने प्रकाशस्तम्भ का कार्य किया तो हम अपने परिश्रम को सफल समझेंगे ।

ओ३मानन्द सरस्वती

वेदोपदेश

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः॥
(ऋ० १०।४४।६) (अथर्व० २०।६४।६)

(प्रथमाः) जो प्रथम कोटि के सर्वोत्तम पुरुष हैं (देवहूतयः) देवों का=दिव्य गुणों का आह्वान करनेवाले हैं, जिन्होंने अपने अन्दर विद्या, ब्रह्मचर्य, सदाचार, ईश्वरभक्ति आदि श्रेष्ठ गुणों को धारण किया है वे (पृथक् प्रायन्) अन्य साधारण मार्ग से पृथक् ही उत्तम मार्ग से अपने-अपने कर्मानुसार जाते हैं। वे (दुष्टराः) दुष्प्रापणीय (श्रवस्यानि) ज्ञानैश्वर्यों को (अकृण्वत) प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु (ये) जो (यज्ञियां नावं) इस उत्तम कर्म-रूपी यज्ञमयी नौका पर (आरुहं न शेकुः) नहीं चढ़ सके, अपनी निर्बलताओं के कारण शुभ कर्म नहीं कर सके (ते) वे (केपयः) कुत्सित आचरण करनेवाले दुष्ट पापी जन (ईर्मा एव) यहीं इसी लोक में (न्यविशन्त) नीचे ही नीचे गिरते-जाते हैं।

कल्याण चाहनेवाले बन्धुओ! इस संसार से पार कर सकने वाली नौका यज्ञमयी ही है। यज्ञ का अर्थ है "देवपूजा-सङ्गति-करण और दान।" देवपूजा—देवों के भी देव महादेव परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना करना और उसकी आज्ञानुसार अपने जीवन को उत्तम बनाना तथा विद्वानों की, माता पिता आचार्य तथा गुरुजनों की सेवा शुश्रूषा करना और सूर्य-चन्द्रमादि भौतिक देवों से भी यथोचित लाभ उठाना।

संगतिकरण--वेदशास्त्रवेत्ता उत्तम विद्वान् धार्मिक पुरुषों के पास जाकर उनके सत्संग से लाभ उठाना। वेदादि सत्य शास्त्रों का स्वाध्याय करना। कुसंग से बचना।

दान—पात्र-कुपात्र, देश-काल का विचार कर श्रेष्ठ धार्मिक

स्थानों में श्रद्धा-भक्ति से यथाशक्ति दान देना।

शतपथ ब्राह्मण में कहा है—'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' अर्थात् जो जो श्रेष्ठ कर्म हैं वे सभी यज्ञ हैं। यदि हम इन यज्ञिय कर्मों का अनुष्ठान न करेंगे तो हम न केवल ऊपर ही नहीं उठ सकेंगे, किन्तु अपने मनुष्यत्व को भी खो बैठेंगे, हमें नीचे ही नीचे पशु-आदि निकृष्ट योनियों में जाना पड़ेगा।

देखो ! बहुत से 'देव-हूति' पुरुष देवलोक, पितृलोक, ब्रह्मलोक आदि दुष्टर=दुष्प्राप्य लोकों में पहुंच गये हैं, वे मनुष्यत्व से ऊपर उठकर शुभ कर्मों द्वारा देव हो गये हैं, उन्होंने अपने अन्दर दिव्य गुणों को धारण किया है और 'प्रथम' उत्कृष्ट=उत्तम ज्ञानी बने हैं।

दूसरी प्रकार के वे अभागे व्यक्ति हैं जो थोड़ासा स्वार्थ त्याग न करने के कारण, अपनी निर्बलताओं के कारण, उत्तम कर्मों को नहीं कर सके और यज्ञिय न होने के कारण संसार सागर को नहीं तर सके, अतः यहीं बन्धे पड़े हैं। ये 'केपि' कुत्सित-आचरणी लोग यहां=इस संसार में भी नीचे ही धंसते जा रहे हैं, अब इनका ऊपर उठना कठिन हो गया है।

यदि मनुष्य योनि पाकर भी हम स्वार्थ त्यागकर उत्तम कर्म न कर सके, कुत्सिताचरणी बनकर मनुष्यत्व को भी खो बठे, तो पुनः हमारे कल्याण का अवसर कब आयेगा, यह कौन जानता है ? हम उस पाप-योनि चक्र से निकल कर कब पुनः मनुष्य योनि को प्राप्त कर सकेंगे, यह कौन बतला सकता है ?

इसलिये हमें इसी जन्म में यत्न करना चाहिये कि हम उत्तम कर्म कर देव बनें, प्रभु को प्राप्त करें, कम से कम इतना अवश्य करें कि जिससे हमारा पशुत्वादि योनियों में अधःपतन तो न हो।

वेद में दुष्टों की संगति का निषेध

महर्षि दयानन्द जी महाराज यजुर्वेद के भाष्य में लिखते हैं—"सब मनुष्यों को उचित है कि दुष्ट गुण और स्वभाववाले मनुष्यों का निषेध करें, इसका उपदेश इस मन्त्र में किया है—

प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं
रक्षो निष्टप्ता अरातयः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ १।७॥

पदार्थ :—मुझ को चाहिये कि पुरुषार्थ के साथ (रक्षः) दुष्ट गुण और दुष्ट स्वभाव वाले मनुष्य को (प्रत्युष्टम्) निश्चय करके निर्मूल करूं, तथा (अरातयः) जो राति अर्थात् दान आदि धर्म से रहित दयाहीन दुष्ट शत्रु हैं, उनको (प्रत्युष्टाः) प्रत्यक्ष निर्मूल (रक्षः) दुष्ट स्वभाव वा दुष्ट गुण विद्याविरोधी स्वार्थी मनुष्य और (निष्टप्तम्) (अरातयः) छलयुक्त होके विद्या का ग्रहण वा दान से रहित दुष्ट प्राणियों को (निष्टप्ताः) निरन्तर सन्तापयुक्त करूं। इस प्रकार करके (अन्तरिक्षम्) सुख को सिद्ध करनेवाले उत्तम स्थान और (उरु) अपार सुख को (अन्वेमि) प्राप्त होऊं॥

भावार्थ— ईश्वर यह आज्ञा देता है कि सब मनुष्य अपने दुष्ट स्वभाव को छोड़कर, विद्या और धर्म के उपदेश से दूसरों के भी दुष्ट स्वभाव को छुड़वाकर अविद्या अधर्म आदि के दुष्ट व्यवहारों से पृथक् करना चाहिये, तथा उनको बहुत प्रकार का ज्ञान और सुख देकर सब मनुष्यादि प्राणियों को विद्या धर्म पुरुषार्थ और नाना प्रकार के सुखों से युक्त करना चाहिये ॥"

इस मन्त्र द्वारा परमात्मा ने मनुष्य को यह उपदेश कितने स्पष्ट शब्दों में दिया है कि अपनी दुष्टता को छोड़कर श्रेष्ठ बनो। दूसरे साथियों को भी श्रेष्ठ बनाओ। यदि दूसरे हमारे निकट रहनेवाले दुष्ट हैं, सदाचारी नहीं हैं, तो उनका भूल कर भी संग नहीं करना चाहिये, इसी में कल्याण है, यही उन्नति का मूल मन्त्र है।

वेद में सत्संग करने का विधान

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता संगमेमहि ॥ (ऋ. ५।५१।१५॥)

(सूर्याचन्द्रमसौ इव) सूर्य और चन्द्रमा के समान हम सब स्वयं (स्वस्ति पन्थाम्) उत्तम कल्याणकारी मार्ग का (अनुचरेम) अनुसरण करें, और (पुनः) तत्पश्चात् (ददता) दानी (अघ्नता) अहिंसक=प्राणिमात्र का उपकार करनेवाले (जानता) ज्ञानी= विद्वान् सत्पुरुषों की (संगमेमहि) संगति करें, उनके बतलाये हुए मार्ग पर चलें ।

परमपिता परमात्मा ने कितना सुन्दर उपदेश दिया है कि हम नित्य प्रति नियमपूर्वक कल्याण मार्ग पर चलें, सत्यपथ से कभी विचलित न हों और इसके लिये हम दानी उदार परोपकारी विद्वान् पुरुषों का सत्संग करें ।

कल्याण मार्ग पर चलने के लिए सूर्य और चन्द्रमा की उपमा दी गई है, इससे दो शिक्षायें मिलती हैं, प्रथम यह कि हम सूर्य और चन्द्रमा की भांति नियमित रूप से सन्मार्ग पर चलते रहें, कभी भी इस नियम को न तोड़ें । दूसरा यह कि जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा दिन-रात जनता को=प्राणिसमूह को प्रकाश का मार्ग दिखलाते हैं, अन्धकार को दूर भगाते हैं, ठीक इसी प्रकार हम भी अन्य लोगों का पथप्रदर्शन करें, अज्ञानान्धकार को ज्ञान-सूर्य बन कर नष्ट करें ।

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते ।
महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति ॥
(अथर्व० १०।८।१५)

(पूर्णेन) पूर्ण के, उत्तम के साथ रहने से(दूरे वसति) सामान्य जनों से दूर रहता है और (ऊनेन) न्यून के=हीन के साथ रहने से भी (दूरे हीयते) दूर गिर जाता है=पतित हो जाता है। (भुवनस्य मध्ये) सब लोक लोकान्तरों में एक (महद्यक्षम्) सब से बड़ा पूजनीय देव परमात्मा है (तस्मै) उसी के लिये राष्ट्रभृतः भरन्ति) राष्ट्र को धारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष बलि अर्पण करते हैं।

इस मन्त्र में उत्तम तथा अधम पुरुषों के संग का वर्णन करते हुए बतलाया है कि जो श्रेष्ठ पुरुषों का सत्संग करता है, उसका सम्मान होने के कारण वह अन्य साधारण लोगों से दूर हो जाता है=ऊंचा उठ जाता है, तथा नीच व्यक्ति का सहवास करने से भी दूर गिर जाता है=पतित हो जाता है।

यद्यपि दूर तो दोनों ही होते हैं किन्तु उत्तम का संग करने वाला आदरणीय और अधम का साथी निन्दनीय होता है। इसलिए जो उत्तम पुरुष हैं वे सब से महान् और पूजनीय देव परमात्मा की संगति करते हैं, उसी की स्तुति-प्रार्थना उपासना करते हैं।

"ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्यो तुम लोगों को विद्या के सिद्ध करनेवाले कार्यों के नियमों में विघ्नकारी दुष्ट जीवों को सदा मारना चाहिये और सज्जनों के समागम से विद्या की वृद्धि नित्य करनी चाहिये, जिस प्रकार अनेक उद्योगों से श्रेष्ठों की हानि दुष्टों की वृद्धि न हों, सो नियम करना चाहिये और सदा श्रेष्ठ सज्जनों का सत्कार और दुष्टों को दण्ड देने के लिये उनका बन्धन करना चाहिये।...ईश्वर की आज्ञा का पालन तथा ईश्वर की उपासना करनी चाहिये।"

(यजुर्वेद १।२६ मन्त्र भाष्य)

सत्संग का अर्थ

'सत्संग' शब्द में षष्ठी या तृतीया तत्पुरुष समास है, सतां सग: 'सत्संग:' 'सद्भिर्वा संग:' सज्जन पुरुषों का या सज्जन पुरुषों से संग=समागम करना, सज्जन धार्मिक विद्वानों के मनोहर उपदेश सुनना और उन पर आचरण करना ब्रह्मचर्यादि उत्तम व्रतों का पालन करना, वेदादि सत्यशास्त्रों का स्वाध्याय करना, सत्य बोलना, ईश्वर विश्वास, ईश्वर भक्ति, सदाचार आदि जीवनोत्थान के उत्तमोत्तम साधनों का भी सत्संग में ही समावेश समझना चाहिये और कुसंग के शब्दार्थ इससे विपरीत समझें।

सत्संग महिमा

हमारे शास्त्र सत्संग की महिमा से भरे पड़े हैं, सभी ने सत्संग की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। वास्तव में सत्संग है ही ऐसा जिस की प्रशंसा करते-करते रुकने को जी नहीं चाहता, जिह्वा नहीं थकती और लेखनी भी लिखने से नहीं रुकती। किसी कवि ने क्या ही सुन्दर कहा है—

चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमा:।
चन्द्रचन्दनयोर्मध्ये शीतला साधुसंगति:॥

संसार में चन्दन को शीतल माना जाता है, चन्द्रमा की सौम्य किरणें तो उस से भी अधिक शीतलतर हैं, किन्तु चन्दन और चन्द्रमा से भी अधिक शीतलतम साधु-संगति=साधु-महात्माओं का सत्संग है।

सत्संग: परमं तीर्थं सत्संग: परमं पदम्।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य सत्संगं सततं कुरु॥

सत्संग ही परम पवित्र तीर्थ है, सत्संग ही परम पद मोक्ष का

साधन है इसलिये सब दुर्व्यसनों को छोड़कर सर्वदा सत्संग करना चाहिये।

श्रीमच्छङ्कराचार्य जी लिखते हैं—

सत्संगत्वे निःसंगत्वं निःसंगत्वे निर्मोहत्वम्।
निर्मोहत्वे निश्चलत्वं निश्चलत्वे जीवन्मुक्तः॥

सत्संग द्वारा विवेक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य सांसारिक पदार्थों में न फंसकर निःसंग हो जाता है और संसार में न फंसने से मोह स्वयमेव दूर हो जाता है तथा मन की स्थिरता हो जाती है और जब मन ईश्वर भक्ति में स्थिर हो जाता है तब मनुष्य संसार सागर से तर जाता है।

मलयाचलगन्धेन त्विन्धनं चन्दनायते।
तथा सज्जनसंगेन दुर्जनः सज्जनायते॥

जैसे मलयाचल चन्दन के पर्वत पर निकट का इन्धन भी चन्दन बन जाता है, उसमें भी चन्दन जैसी सुगन्ध आने लगती है इसी भांति सज्जनों की संगति से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं क्योंकि—

महाजनस्य संसर्गः कस्य नोन्नतिकारकः।
पद्मपत्रस्थितं वारि धत्ते मुक्ताफलश्रियम्॥

महापुरुषों के संसर्ग से एक तुच्छ व्यक्ति भी उन्नति कर अत्युत्तम बन जाता है, जैसे वर्षा की एक छोटीसी बूंद कमल के पत्ते के संसर्ग से मोती के सदृश दिखलाई पड़ती है। यह जल बिन्दु समुद्र की सीप में गिरने से वास्तव में मोती ही बन जाता है। किन्तु तपे हुये लोहे पर गिर जाये तो उसका नाम मात्र भी शेष नहीं रहता, नष्ट हो जाता है। ठीक यही अवस्था सत्संग और कुसंग के विषय में समझें।

किसी हिन्दी के कवि ने भी कितना सुन्दर कहा है:—

सत्संग और कुसंग में बड़ा अन्तरा जान।
गान्धी और लुहार की देखो बैठ दुकान॥

आप किसी गान्धी=सुगन्धित तैल इतर आदि बेचनेवाले की दुकान पर जाकर बैठेंगे तो सब कुछ सुगन्धित हो जायेगा और पुनः एक लुहार के निकट जाकर बैठिये, वहां पर तप्त लोहे की चिनगारियां वस्त्र और शरीर को जला देंगी। सत्संग और कुसंग में यही भेद है। सत्संग उन्नति के शिखर पर चढ़ा देता है और कुसंग अवनति के गर्त में गिरा देता है।

एक तुच्छ कीट भी फूल के सत्संग से बड़े बड़े राजा महाराजाओं के शिर पर पहुंच जाता है, कांच=सीसा भी स्वर्ण के संग से सूर्य की भांति चमकने लगता है। मूर्ख भी पण्डित के संसर्ग में रहने से अति चतुर बन जाता है, निस्तेज भी तेजस्वी के सत्संग से स्वयं तेजःसम्पन्न हो जाता है, सूर्य के सम्पर्क से सीसे में भी जलाने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है और वह वस्त्रादि को जला देता है। इसलिए नीतिकारों ने कहा है—"सतां हि संगः सकलं प्रसूते" तर्थात् सज्जन पुरुषों की संगति से सब कुछ मिल जाता है।

सत्संग की महिमा का कहां तक वर्णन करें, इसकी महिमा अपार है, इसीलिये किसी कवि ने दो ही शब्दों में कह दिया है—इसे सर्वदा स्मरण रखें—

यदि सत्संगनिरतो भविष्यसि-भविष्यसि।
अथ दुर्जनसंसर्गे पतिष्यसि-पतिष्यसि॥

यदि सत्संगी बनोगे तो बन जाओगे और यदि कुसंग में पड़ जाओगे, तो पतित हो जाओगे।

कुसंग दोष

अहो दुर्जनसंसर्गान्मानहानिः पदे पदे ।
पावको लोहसंगेन मुद्गरैरभिहन्यते ।।

दुर्जन के संसर्ग में रहने से पद पद पर मानहानि=अपमान सहन करना पड़ता है, शुद्ध पवित्र अग्नि को भी लोह के साथ घनों से पीटा जाता है। चणे के साथ घुन भी पीसा जाता है। सीता को चुराया रावण ने किन्तु दुष्ट के संसर्ग में होने के कारण समुद्र पर सेतु बांधा गया। यह लोकोक्ति है कि—"नीचाश्रयो हि महतामपमान-हेतुः" नीच का आश्रय लेने से या उसके निकट रहने से महापुरुषों को भी अपमान होता है।

सार यह है कि सम्पूर्ण दुराचार और विनाश के कारणों की जड़ कुसंगति ही है, अतः अपना कल्याण चाहनेवालों को, विशेषतया ब्रह्मचारियों को कुसंग से बचना चाहिये, अर्थात् अष्ट-मैथुन का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये, आंखों से कभी भद्दी वस्तु सिनेमा, रामलीला, नाटक तथा अश्लील चित्रादि को न देखें, कानों से कभी अश्लील गाना, सिनेमा रागिणी आदि न सुनें, नासिका से किसी गन्ध पर मोहित न हों, पांवों से कुसंगति में न जायें, हाथों से किसी बुरी वस्तु को न छूयें और मन से उपरिलिखित विषयों का कभी भूलकर भी चिन्तन न करें। तात्पर्य यह है कि पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय तथा ग्यारहवां मन इन पर हमारा आधिपत्य होना चाहिये तभी हम कुसंग से बच सकते हैं।

एक बार भगवान् विष्णु ने राजा बलि से पूछा कि—तुम सज्जनों के साथ नरक में जाना पसन्द करोगे या दुर्जनों के साथ स्वर्ग में ? राजा बलि ने उत्तर दिया कि मैं सज्जनों के साथ नरक में जाना उत्तम समझता हूँ, क्योंकि जहां सज्जन जायेंगे वहां नरक भी स्वर्ग बन जायेगा और दुर्जन स्वर्ग को भी नरक बना

देते हैं।" क्योंकि—

अणुरप्यसतां संगः सद्गुणं हन्ति विस्तृतम्।
गुणरूपान्तरं याति तक्रयोगाद् यथा पयः॥

दुर्जनों का थोड़ासा कुसंग भी विस्तृत गुणराशि को नष्ट कर देता है, जैसे कि थोड़े से तक्र=छाछ के संग से सैकड़ों गुणा अधिक दूध गुण और रूप में सर्वथा भिन्न हो जाता है। एक रत्ती विष से सम्पूर्ण भोजनसामग्री विषाक्त हो जाती है। और जहां पर दुर्जन ही दुर्जन हों वहां पर तो स्वर्ग की कामना करना खपुष्प तथा वन्ध्यापुत्र के तुल्य ही है। किसी कवि ने कितना स्पष्ट कहा है—

आनन्दमृगदावाग्निः शीलशाखिमद्द्विजः।
ज्ञानदीपमहावायुरयं खलसमागमः॥

दुष्टों की संगति आनन्दरूपी मृग को भगाने के लिये भयंकर दावाग्नि=जंगल की आग का कार्य करती है, शील=सदाचार रूपी वृक्ष को उखाड़ने के लिए मदोन्मत्त हाथी का कार्य करती है और विवेक ज्ञान रूपी दीपक को बुझाने के लिये प्रचण्ड आंधी का कार्य करती है। योगरसायन में कहा है—

असत्संगाद्गुणज्ञोऽपि विषयासक्तमानसः।
अकस्मात्प्रलयं याति गीतरक्तो यथा मृगः॥

कुसंग से जब मन विषयों के विष से मुक्त हो जाता है तब गुणवान् और विद्वान् व्यक्ति भी सहसा ही मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं जैसे कि वीणा के सुरीले राग के वशीभूत हुआ मृग=हरिण मारा जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने ठीक ही कहा है—

वरु भल वास नरक कर ताता। न दुष्ट संग जनि देई विधाता॥

घोर नरक में रहना अच्छा है, किन्तु परमात्मा किसी को दुष्टों की संगति न दे। क्योंकि मनुष्य भयंकर से भयंकर विपत्ति

से भी पार हो सकता किन्तु दुष्टों के पंजे से छुटकारा पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

संसार में ऐसा कौन सा नीच कर्म है जिसको कुसंग से मनुष्य न सीखले। दुर्जन स्वयं तो नष्ट भ्रष्ट होता ही है किन्तु साथ-साथ अन्य अनेक होनहार बच्चों को भी ले डूबता है।

तुलसीदास जी के शब्दों में "को न कुसंगति पाय नसाई"; ऐसा कौन है जो कुसंग में पड़कर 'उभयतो भ्रष्ट' न हो गया हो? इस कुसंग पिशाच के चक्र में आकर सहस्रों होनहार शीलसम्पन्न बालक-बालिकायें, नवयुवक और नवयुवतियां अपने जीवन से हाथ धो बैठीं। भयङ्कर जंगली पशुओं और सांपों के साथ रहना अच्छा है किन्तु कुसंग में पड़ना नहीं।

पं० विष्णु शर्मा पञ्चतन्त्र में लिखते हैं—

"वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानामुपगमः"

प्राण त्याग देना अच्छा है किन्तु नीच की संगति अच्छी नहीं। क्योंकि प्राण त्यागने पर दूसरा उत्तम शरीर कर्मानुसार मिल जायेगा, किन्तु कुसंग में तो लोक परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं, यह लोक तो प्रत्यक्षरूप से है ही नष्ट-भ्रष्ट और पाप कर्म करने से अगला जन्म भी उत्तम नहीं मिलता।

"जैसा संग वैसा रंग" के अनुसार सत्संग करने से मनुष्य श्रेष्ठ बन जाता है और कुसंग में पड़ कर अधम बना जाता है। संग का रंग अवश्य चढ़ता है, एक स्वच्छ भवन धूएं से काला बन जाता है, काला कोयला भी अग्नि के संयोग से धधकने लगता है, लता या घास में रहनेवाला कीड़ा और जन्तु भी तत्सदृश रंग का हो जाता है। कहा भी है—

असतां संगदोषेण साधवो यान्ति विक्रियाम्।
दुर्योधनप्रसंगेन भीष्मो गोहरणे गतः॥

दुर्जनों की संगति में रहने से सज्जन भी दुर्जन बन जाते

हैं, उनकी भी वृत्तियां विकृत हो जाती हैं, महाभारत काल में दुष्ट दुर्योधन के संग में रहने के कारण भीष्म पितामह भी राजा विराट् की गौयें चुराने के लिये चले गये थे।

इसलिये विचार-शील सत्पुरुषों ने कहा है—

"भुजंगवद्वर्ज्यो बुधैर्दुर्जनः" बुद्धिमानों को चाहिये कि दुर्जन से सर्वदा सर्प की भान्ति पृथक् रहें। इनकी संगति करना तो दूर रहा, ऐसे दुष्ट पापियों के पड़ोस में रहना भी हानिप्रद है। इतना ही नहीं, राजर्षि चाणक्य ने तो दुर्जन को सर्प से भी भयंकर बतलाया है—

सर्पश्च दुर्जनश्चैव वरं सर्पो न दुर्जनः।
सर्पो दशति काले दुर्जनस्तु पदे पदे ॥ (चाणक्य नीति)

सर्प और दुर्जन में से सर्प ही अच्छा है, क्योंकि सर्प तो जब काल आकर उपस्थित हो जाता है तब काटता है किन्तु दुर्जन तो पद पद पर प्रहार करता है। सर्प, बिच्छू आदि किसी अवयव विशेष से प्रहार करते हैं किन्तु दुर्जन का तो एक-एक अंग विष से भरा हुआ होता है—

तक्षकस्य विषं दन्ते मक्षिकायाश्च मस्तके।
वृश्चिकस्य विषं पुच्छे सर्वांगे दुर्जनस्य तत् ॥

सर्प के दांत में, मक्खी के सिर में और बिच्छू के पूंछ में विष होता है किन्तु दुर्जन के सभी अंग विषाक्त हैं।

दुष्टों की मैत्री, वेश्या और लक्ष्मी ये तीन कितना ही यत्न किया जाये किन्तु स्थिर नहीं रहतीं। इसलिये विष्णु शर्मा ने पञ्चतन्त्र में कहा है—

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण,
लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना,
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥

अर्थात् दुर्जनों की मित्रता आरम्भ में बहुत बड़ी होती है अर्थात् अति सुन्दर प्रतीत होती है किन्तु उत्तरोत्तर घटती ही जाती है, जैसे कि प्रातःकाल छाया बहुत बड़ी होती है किन्तु दोपहर तक कम होकर न्यूनतम रह जाती है और सज्जनों की मित्रता प्रारम्भ में नाममात्र ही होती है किन्तु दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। जिस प्रकार दोपहर के पश्चात् छाया उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

इसलिये दुर्जनों की संगति को प्रारम्भ में फूला-फला देखकर उसमें फंसना नहीं चाहिये, अपितु उसके भावी दुष्परिणामों को विचार कर सर्वथा पृथक् ही रहना चाहिये, इसी में कल्याण है।

किसी कवि ने कुसंग के फलों का कितना उत्तम चित्र खींचा है :—

पापं वर्धयते, चिनोति कुमतिं, कीर्त्यंगना नश्यति,
धर्मं ध्वंसयति, तनोति विपदं, सम्पत्तिमुन्मर्दति।
नीतिं हन्ति, विनीतिमत्र कुरुते, कोपं धुनीते समं,
किं वा दुर्जनसंगतिर्न कुरुते, लोक-द्वयध्वंसिनी॥

कुसंग पाप को बढ़ाता है, बुद्धि को मलिन कर देता है, कीर्ति को नष्ट करता है, धर्म का ध्वंस कर आपत्तियों के पहाड़ खड़े कर देता है और धन सम्पत्ति न्याय आदि का लोप हो जाता है। स्वभाव चिड़चिड़ा और क्रोधी बन जाता है, ऐसा कौनसा दुष्कर्म है जिसको कि इस लोक तथा परलोक का नाश करने वाली कुसंगति न करवाती हो।

न व्याघ्रः क्षुधयातुरोऽपि कुपितो, नाशीविषः पन्नगो
नारातिर्बलसत्त्वबुद्धिकलितो, मत्तः करीन्द्रो न च।
तं शक्नोति न कर्तुमत्र नृपतिः कण्ठीरवो नोद्धुरो
दोषं दुर्जनसंगतिर्वितनुते यं देहिनां निन्दिता॥

भूखा तथा क्रुद्ध हुआ शेर जिस कार्य को नहीं कर सकता, भयंकर विषधर सर्प जो हानि नहीं कर सकता और बुद्धि सेना आदि से बल सम्पन्न शत्रु तथा मदमस्त हाथी भी जो हानि नहीं पहुँचा सकता. वह भयंकर सर्वनाश मनुष्य का कुसंग में पड़ने से हो जाता है।

कुसंग में पड़ने से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, पुरुषार्थचतुष्टय और लोक परलोक सब मिट्टी में मिल जाते हैं, मनुष्य जन्म पाकर भी पशु-पक्षियों से भी नीच गति हो जाती है। इसलिये कहा है—

न स्थातव्यं न गन्तव्यं क्षणमप्यधमैः सह।
पयोऽपि शौण्डिकीहस्ते मदिरां मन्यते जनः॥

अधम पुरुषों के पास एक क्षण भी उठना बैठना नहीं चाहिये, यदि कोई सज्जनपुरुष भी अकस्मात् किसी निन्दनीय स्थान पर चला जाता है तो लोग उसे भी वैसा ही समझने लगते हैं, जैसे कि कलाल (शराब बनाकर बेचनेवाले) के हाथ में शुद्ध पवित्र गोदुग्ध हो तब भी जनता उसे मदिरा (शराब) ही समझती है।

कुसंग के दो भेद हैं—प्रथम शारीरिक, द्वितीय मानसिक। शारीरिक कुसंग से पृथक् रहना सहज है, क्योंकि इसके लिये कुछ बाधायें प्रत्यक्ष रूप से हैं, अपने कुल की, माता-पिता की मान मर्यादा क भय से, या माता-पिता अथवा गुरुजनों के डर से अथवा लोक-लज्जा के कारण से ही मनुष्य प्रत्यक्ष रूप से कुछ अंशों में कुसंग से बच जाता है, चोरी से भी अवसर मिलने पर ही कर सकता है किन्तु मानसिक कुसंग से बचना कठिन है। मनुष्य प्रतिक्षण उठता बैठता खाता-पीता यहां तक कि शयन काल में भी स्वप्न के द्वारा अपने विचारों को दूषित

करता रहता है। गन्दी पुस्तकें पढ़ना भी मानसिक कुसंग है।

कुछ भोले भाई यह विचारते हैं कि हम शरीर से तो कुछ करते हो नहीं, गन्दी पुस्तकें पढ़ने से अथवा अश्लील भावनाओं से हमारा क्या बिगड़ता है किन्तु ऐसा सोचने वाले भयंकर भूल करते हैं। मन से या कर्म से हम जैसा शुभाशुभ विचार या क्रिया करते हैं उस की वैसी ही अमिट छाप चित्त पट पर पड़ जाती है और पीछे वासना का रूप धारण कर सताती है। भगवान् श्री कृष्ण ने गीता के द्वितीय अध्याय में कहा है—

> ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
> संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
> क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
> स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

कुसंग में प्रथम मन में बुरे विचार उत्पन्न होते हैं और फिर मनुष्य का उन से संग हो जाता है अर्थात् वैसे स्थान या व्यक्ति के निकट पहुँच जाता है। संग से काम उत्पन्न होता है, किसी ने कहा भी है—"कामिनां कामिनीनाञ्च संगात् कामो भवेत्पुमान्" कामुक स्त्री-पुरुषों के संग से मनुष्य स्वयं भी कामी बन जाता है। जब उस कामना की पूर्ति नहीं होती तब क्रोध आ दबाता है और किंकर्तव्यविमूढ बना देता है, स्मरण-शक्ति काम नहीं देती, स्मरण-शक्ति के विकृत होने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जिससे सर्वनाश हो जाता है, क्योंकि सारा संसार बुद्धि का ही खेल है। "बुद्धिर्यस्य बलं तस्य" बलवान् वही है जिसकी बुद्धि सुस्थित है,। बुद्धि गई तो सब कुछ गया। इस लिये कुसंग से मनसा वाचा कर्मणा पृथक् रहना चाहिये।

शिक्षा और कुसंग

बिना पढ़े-लिखों की अपेक्षा शिक्षित समुदाय कुसंग के चक्र में अधिक फंसा हुआ है, इसका कारण हमारी प्रचलित शिक्षा प्रणाली है। अशिक्षित व्यक्ति अज्ञान से या कुसंग से बुराइयों में फंस जाते हैं किन्तु इस शिक्षा-प्रणाली में बुराइयां सिखलाई जाती हैं। इसलिये हमारे शिक्षित वर्ग के आचार का स्तर नीचा होता जा रहा है।

प्राचीन काल में आर्षपाठविधि के अनुसार बालक गुरुकुलों में माता पिता और सांसारिक वातावरण से पृथक् जाकर ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्योपार्जन करते थे। सात-आठ वर्ष के बालक-बालिका को गुरुजनों के निकटतम सम्पर्क में छोड़ दिया जाता था। गुरु वा आचार्य का यह प्रधान कर्म था कि वह दिन रात (२४ घंटे) उनके आचार-विचार का ध्यान रखता था और विद्या भी ऐसी ही पढ़ाई जाती थी जिससे लोक परलोक दोनों सुधर जाते थे। पतित होने का ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) को अवसर ही नहीं मिलता था, इसीलिए यहां पर कपिल कणाद, जैमिनि, पतञ्जलि और राम कृष्ण तथा दयानन्द उत्पन्न हुये थे।

वर्तमान अनार्ष शिक्षा प्रणाली इससे सर्वथा विपरीत है। इस से मानव के स्थान पर दानव बनाये जा रहे है। वास्तव में इस शिक्षा प्रणाली की नींव ही लार्ड मैकाले की दूषित भावनाओं पर रखी हुई है। जिस भवन की नींव ही दूषित हो उससे आगे कल्याण की क्या आशा की जा सकती है।

चौबीस घंटों में से केवल चार पांच-घंटे पाठ्य पुस्तकों के पाठ रटवाकर अध्यापक अपना कर्त्तव्य पूरा समझ लेते हैं, माता पिता को तो कोई चिन्ता करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि वे अपने पुत्र को स्कूल में पढ़ने के लिये भेजकर सर्वथा

चिन्तामुक्त हो जाते हैं। विद्यार्थी के जीवन का ध्यान किसी को भी नहीं (सम्भवतः यह हमारे लिये छोड़ रखा हो)।

इस पाठविधि में विद्यार्थी के चरित्र निर्माण के लिये कोई स्थान नहीं है, आचार-विचार को भ्रष्ट करने के साधनों की भरमार है। कामुकता को उत्पन्न करने वाले अश्लील अनार्ष दूषित ग्रन्थ पाठ्यक्रम में रखे हुए हैं। जिनको पढ़कर ब्रह्मचारी रहना कठिन है। प्रथम तो १५ और २० वर्ष के बीच की अवस्था ही ऐसी है जिसमें न प्रकाश होता है न ही अन्धेरा। यदि इस अवस्था में विद्यार्थी को सन्मार्ग न दिखलाया जाये तो पतित होने की आशंका बनी रहती है। पतित होने का दूसरा साधन है दुश्चरित्र अध्यापक और विद्यार्थियों का कुसंग तथा विचारों को गन्दा करने के लिए अश्लील अनार्ष ग्रन्थों का अध्ययन। यदि कुछ न्यूनता रह भी जाये तो उसको सहशिक्षा (नवयुवक और नवयुवतियों का एक साथ मिलकर पढ़ना) तथा सिनेमा, नाच, गान आदि पूर्ण कर देते हैं जिससे विद्यार्थी का सदाचारी रहना असम्भव है। इसी के परिणामस्वरूप मैट्रिक करने तक ही लगभग सभी विद्यार्थियों का आचार भ्रष्ट हो जाता है। आगे चलकर कालेजों में तो एक प्रतिशत विद्यार्थी ऐसा नहीं मिल सकता जिसका ब्रह्मचर्य नष्ट न हो गया हो।

जब विद्यार्थी बी० ए० की उपाधि लेकर लुट पिट-कर आता है तब उसकी ठीक वही अवस्था बन जाती है जो रस निकले हुये गन्ने की या निचोड़े हुये निम्बू की होती है। इस सम्पूर्ण दुष्परिणाम का कारण शारीरिक और मानसिक कुसंग है।

प्राचीन काल में आचार्य शिष्य को बनाता था। "तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति" (अथर्व ११।५।३) वेद के आदेशानुसार शिष्य की रक्षा उसी भांति करता था जिस प्रकार माता गर्भावस्था में

बच्चे की करती है। राम को किसने बनाया ? गुरुवर वसिष्ठ ने। कृष्ण को किसने बनाया ? ऋषि घोर आंगिरस ने। अर्जुन को किसने बनाया ? आचार्य द्रोण ने। दयानन्द को किसने बनाया ? गुरुवर विरजानन्द ने। किन्तु आज की शिक्षा प्रणाली में यह भार गुरुओं ने अपने कन्धों से उठाकर दर्जियों पर छोड़ दिया है। इसीलिए जो जैसा चाहता है वैसा ही दो-तीन घण्टे में दर्जी के घर जाकर बन आता है।

वेद ने ऐसे लोगों को 'ततनुष्टि' 'तनुशुभ्र' और 'कवासख' कहा है—

"अपापशक्रस्ततनुष्टिमूहति तनुशुभ्रं मघवा यः कवासखः ।"
(ऋ० ५।३४।३)

जो ईश्वर भक्ति करता है, उत्तम मार्ग पर चलता है, उसको ईश्वर बढ़ाता है, शक्ति प्रदान करता है, किन्तु जो ततनुष्टि है, दिन-रात विषयों में ही फंसता जाता है, तनुशुभ्र=शरीर की ही सजावट बनावट में लगा रहता है और 'कवासख' अर्थात् जो कुत्सित संगति में रहता है, जिसके मित्र तथा साथी कुत्सित आचरणी हैं, उसको सर्वशक्तिमान् ऐश्वर्यशाली परमात्मा (अप अप ऊहति) नीचे ही नीचे गिराता रहता है, मिटा देता है, विनष्ट कर देता है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली के भयंकर दुष्परिणामों को देखकर इससे कोई भी भारतीय सन्तुष्ट नहीं है, राष्ट्रपति से लेकर छोटे से कर्मचारी तक सभी इसकी कटु-आलोचना करते हैं। हमारे सभी नेता समय समय पर कहते रहते हैं कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन होना चाहिये, किन्तु पता नहीं वे शुभ दिन कब आयेंगे जब दुराचार की जननी इस शिक्षा-प्रणाली का अन्त होगा और यह अतीत-शिक्षा-प्रणाली के रूप में परिणत

होगी। परमात्मा कृपा करे कि जिससे शीघ्र ही ये दुराचार के अड्डे तथा आचरणहीन क्लर्क बनाने के कारखाने बन्द हों और फिर से वही रामायण-महाभारतकालीन आर्ष शिक्षा-प्रणाली प्रचलित हो, जिससे हम भी वाल्मीकि तथा व्यास के स्वर में स्वर मिलाकर कह सकें—

"सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे शस्त्रविशारदाः"

तथा हमारे राष्ट्रपति भी राजा अश्वपति की भांति निःसंकोच होकर कह सकें—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
(छान्दोग्योपनिषत्)

सत्संग के लाभ

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिये तुला इक अंग।
तुले न ताहि सकल मिली, जो सुख लाभ सत्संग॥

सत्संग के लाभ अपार हैं, मनुष्य माया-मोह से छूट जाता है और उसके अन्दर विवेक ज्ञान का उदय हो जाता है जिससे सत्यासत्य का निर्णय कर सकता है। सन्मार्ग पर चलने की शक्ति मिलती है, यदि आलस्यवश कुछ ढीलापन आ जाता है तो वह सत्संग से दूर हो जाता है। गिरा हुआ व्यक्ति भी सत्संग पाकर ऊंचा उठ जाता है, बड़े-बड़े डाकू भी सज्जनों की शरण में आकर सुधर जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने ठीक ही कहा है—"सठ सुधरहि सत्संगति पाई।
पारस परसि कुधातु सुहाई॥"

सत्संग के लाभों का वर्णन एक संस्कृत के कवि ने कितना सुन्दर किया है।

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम्,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति,
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥

सत्संग से बुद्धि की मलीनता, मूढ़ता दूर हो जाती है, वाणी में सत्य का सिञ्चन हो जाता है अर्थात् मनुष्य झूठ को छोड़कर सत्य को ग्रहण करने लग जाता है जिससे सब पाप कर्म छूट जाते हैं, चित्त प्रसन्न रहता और संसार में उसकी कीर्ति फैल जाती है। इसलिये सत्संग से सभी शुभ गुण मनुष्य में आ जाते हैं।

सत्संग को पाकर सहस्रों भूले भटकों ने पुनः सन्मार्ग को ग्रहण किया है। ऐसे महापुरुषों के आपको अनेक उदाहरण मिलेंगे जिन्होंने केवल थोड़े से सत्संग से ही काया पलट दी है।

महर्षि दयानन्द जी ने पेशावर में सिपाही लेखराम को २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालने का उपदेश दिया था, महर्षि के ब्रह्मचर्य का उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने पच्चीस के स्थान में ३६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन किया और आगे चलकर वही लेखराम धर्मवीरों की पंक्ति में अपना नाम अंकित करवा गया।

नास्तिक मुन्शीराम वकील बरेली में महर्षि दयानन्द जी के सत्संग में सम्मिलित हुआ था, वह उस समय सभी धर्मों से पराङ्मुख हो चुका था किन्तु महर्षि के उपदेशों का इतना गहरा प्रभाव हुआ कि वह नास्तिक मुन्शीराम के स्थान में ईश्वर का श्रद्धालु भक्त वीर सेनानी श्रद्धानन्द बन गया।

संवत् १९४० में जब महर्षि दयानन्द जी मृत्यु शय्या पर विराजमान थे तब उनके पास पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए० गया। वह भी पहले ईश्वर पर विश्वास नहीं रखता था किन्तु महर्षि को

अन्तिम लीला को देखकर सदा के लिये सच्चा भक्त बन गया।

एक बार महर्षि दयानन्द जी को अमीचन्द ने एक गाना सुनाया। उसके गाने को सुनकर ऋषि अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहा—"अमीचन्द तू है तो रत्न, किन्तु कीचड़ में पड़ा है।" इतना कहना था कि शराबी कबाबी और वेश्यागामी अमीचन्द सब पापों को छोड़कर सच्चा आर्य बन गया और अपना सम्पूर्ण जीवन आर्यसमाज के प्रचार कार्य में लगा दिया।

मथुरा की घटना है, एक बार महर्षि दयानन्द जी को पतित करने के विचार से विरोधियों ने एक वेश्या को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर भेजा। स्वामी जी समाधि लगाये बैठे थे, उनको देखकर वह वेश्या डर गई और वापिस लौट आई, किन्तु धूर्तों ने कुछ लोभ बढ़ाकर उसको पुनः भेजा। स्वामी जी का उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने सब आभूषण उतार कर रख दिये और रोने लग गई। ऋषि की समाधि खुली तब आश्चर्यान्वित हुए।

अब वेश्या, वेश्या नहीं रही थी। ऋषि के पांवों पर गिरी और अपना अपराध सुनाकर क्षमा याचना की तथा आगे से पवित्र जीवन व्यतीत करने का व्रत लिया। इसी प्रकार ऋषि के जीवन की और भी अनेक घटनायें हैं वे यहां पर विस्तार भय से नहीं लिखी जा सकतीं, उनके जीवन को पढ़कर ही सब का ज्ञान किया जा सकता है।

इसी प्रकार भगवान् बुद्ध के जीवन की भी ऐसी ही अनेक घटनायें हैं। एक बार उपदेश करते-करते वे लच्छी राज्य में जा पहुंचे, वहां पर 'अम्बापालिका' नाम की एक प्रसिद्ध वेश्या थी, वह भी भगवान् बुद्ध के उपदेश में बन ठन कर जा पहुंची, और हाव भावों से भगवान् बुद्ध को अपने वश में करना चाहा। वे

भी समझ गये कि आज की सभा में सबसे बड़ा रोगी यही है इसी की पहले चिकित्सा करनी चाहिये।

भगवान् बुद्ध ने अपना उपदेश प्रारम्भ किया कि "यह शरीर कितना अपवित्र है, इसकी आंख से ढीढ निकलती है, नाक से सिणक निकलता है, मुंह से लार टपकती है, इसी प्रकार पायु और उपस्थेन्द्रिय से शौच (टट्टी) और पेशाब आता है, यहां तक कि रोम रोम से स्वेद निकलता है किन्तु भोला मानव इतने पर भी इतराता है और अपने रूप यौवन पर फूला नहीं समाता। एक दिन आयेगा यह सब कुछ मिट्टी में मिल जायेगा.........इत्यादि" उपदेश हो रहा था, उस वेश्या पर भगवान् बुद्ध के हार्दिक उपदेश का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उस वेश्या का हृदय पिघल गया और वह फूट-फूट कर रोने लगी, आंखों की स्याही से सम्पूर्ण मुख-मण्डल तथा वस्त्र मैले हो गये।

उपदेश के अन्त में वह वेश्या बुद्ध के पास गई और पांवों पर गिरकर क्षमा मांगने लगी। भगवान् बुद्ध समझ गये, इसके रोग की ठीक चिकित्सा हो गई है अतः उसको 'पुत्री' शब्द से सम्बोधन कर आश्वासन दिया और उसने भी आगे से उत्तम रीति से जीवन व्यतीत करने का व्रत लिया।

इतना ही नहीं, उसने बुद्ध को भोजन के लिये निमन्त्रण दिया और वहां जाकर बुद्ध ने पुनः उपदेश दिया। उपदेश में उस पूर्वोक्त वेश्या की जो सखी सहेलियां थीं उन्होंने भी इस पाप कर्म को छोड़ने का व्रत ग्रहण किया। तत्पश्चात् उन सहस्रों वेश्याओं ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और बौद्ध भिक्षुणी बनकर भगवान् बुद्ध के उपदेशों का प्रचार किया।

इसी प्रकार एक काकुदन्त नाम का बड़ा भारी विद्वान् था, उसको अपनी विद्या का बहुत अभिमान था, वह शास्त्रार्थ में

पराजित कर बुद्ध को भी अपना शिष्य बनाना चाहता था। अपने सहस्रों शिष्यों सहित हाथी पर चढ़कर एक दिन वह काकुदन्त बुद्ध के पास शास्त्रार्थ करने के लिये गया। महात्मा बुद्ध के जीवन का उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि बिना ही शास्त्रार्थ किये काकुदन्त बुद्ध का शिष्य बन गया।

इसलिए कहा है कि—

सम्भाषा दर्शनं स्पर्शः कीर्त्तनं स्मरणं तथा।
पावनानि किलैतानि साधूनामिति शुश्रुमः॥

साधु-महात्माओं के साथ भाषण करना, उनके दर्शन, स्पर्श, प्रशंसा और स्मरण करना भी कल्याणकारी है।

संग किसका करना चाहिये ?

संसार में देखा जाता है कि जो जैसा होता है वह वैसों से ही मित्रता करता है, उन्हीं के साथ उठता-बैठता और खाता-पीता है, महाराज भर्तृहरि जी लिखते हैं :—

मृगा मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति,
गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरंगैः।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः
समानशीलव्यसनेषु सख्यम्॥

मृग मृगों के साथ चलते हैं, गायें गायों के साथ और घोड़े घोड़ों के साथ रहते हैं, मूर्ख मूर्खों के साथ और पण्डित पण्डितों के साथ रहना पसन्द करते हैं, क्योंकि मित्रता उन्हीं की होती है जिनका आचार-विचार तथा व्यवहार मिलता है।

इसलिये बुद्धिमानों ने मनुष्य को परखने के लिए यह कसौटी बना ली है कि यदि तुम जानना चाहते हो कि देवदत्त कैसा है, तो उसके साथियों को, उससे सम्बन्ध रखनेवाले यार-दोस्तों को

देख लो कि वे कैसे हैं, जैसे उसके साथी भले या बुरे हैं, वैसा ही देवदत्त भी है।

यह तो हुआ स्वाभाविक प्रवृत्ति के विषय में, किन्तु प्रयत्न से इससे विपरीत किया जाता है। एक भला मनुष्य भी दुर्जनों में बैठ कर दुर्जन बन सकता है, इसी प्रकार दुर्जन भी सज्जनों की शरण में आकर सज्जन बन सकता है क्योंकि—

हीयते मतिस्तात हीनैः सह समागमात्।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम्॥

अपने से हीन व्यक्ति के संग में रहने से कोई लाभ नहीं अपितु स्वयं भी हीन-नीच बन जाता है अपने समान व्यक्ति के साथ रहने में भी कोई विशेष लाभ नहीं होता, अपने से श्रेष्ठ पुरुषों का संग करने से लाभ होता है स्वयं भी वैसा ही बन सकता है। इसलिए अपने से अधिक गुणवान् श्रेष्ठ पुरुषों तथा साधु महात्माओं के संग में रहना चाहिये।

सबसे उत्तम सर्वशक्तिमान् परमात्मा है, उसका सत्संग-स्तुति, प्रार्थना, उपासना नित्यप्रति अवश्यमेव करनी चाहिये। ईश्वर की भक्ति का फल महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं—

"जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव सदृश जीवात्मा के गुण कर्म, स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिए परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये।"

महात्मा गांधी जी लिखते हैं—

"जब आपकी विषय-वासनायें आपको धर दबोचने की धमकी दें तब आप अपने घुटनों के बल बैठ जायें और परमात्मा से सहायता के लिए पुकार लगायें। ईश्वर का नाम हमारा अमोघ सहायक है।"

जब तक मनुष्य ईश्वर को सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् जान कर उसकी भक्ति नहीं करता, ईश्वर पर विश्वास नहीं करता, तब तक पाप करने से नहीं रुक सकता। पाप कर्म सर्वदा छिपकर ही किया जाता है और मनुष्य सबको धोखा देकर एकान्त में पाप कर बैठता है। किन्तु उस सर्वशक्तिमान् सर्व-व्यापक प्रभु से कभी कहीं नहीं छिप सकता। क्योंकि वह तो पहले ही सर्वत्र विद्यमान है। कुकर्म करते हुए जब भय, लज्जा आदि होते हैं तब मनुष्य इधर-उधर चहुँ ओर दृष्टि दौड़ाता है कि कहीं कोई देख तो नहीं रहा। जब कोई दृष्टिगोचर नहीं होता तो निःशङ्क होकर पाप में प्रवृत्त हो जाता है। किन्तु उस मूढ को यह ज्ञान नहीं—"द्वौ संनिसद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुण-स्तृतीयः" अथर्ववेद ४।१८।२)।

दो व्यक्ति मिलकर कोई गूढ मन्त्रणा करते हैं उसको तीसरा सकल ब्रह्माण्ड का स्वामी वरुण प्रभु जानता है। इसलिए कभी भी ऐसी भूल नहीं करनी चाहिये। जो दूसरों को धोखा देता है ठगता है, वह वरुणदेव के द्वारा स्वयं ठगा जाता है, वरुण अपने पाशों से उसे तत्क्षण जकड़ कर बन्दी बना लेता है और मूढ पापी को पता तक भी नहीं चलता।

ईश्वर के पश्चात् तत्कृत वेदों का तथा वेदानुकूल शास्त्र स्मृत्यादि का स्वाध्याय द्वारा सत्संग करना चाहिये तथा जो ऋषि, मुनि, साधु, महात्मा और आप्त पुरुष हैं उनकी संगति का लाभ उठाना चाहिये।

हमने अनेक स्थानों पर साधु-सन्तों से सत्संग करने के लिए निर्देश किया है। साधु-सन्तों से हमारा अभिप्राय वीतराग, निष्काम, स्वार्थ, छल, कपटादि से रहित महापुरुषों से है जो सर्वदा लोक-कल्याण में लगे रहते हैं। आजकल ऐसे भोजन-भट्ट भी

बहुत हैं जो केवल अपना उल्लू सीधा करने के लिए ही वस्त्रादि संन्यासियों के चिह्नों को धारण कर पवित्र संन्यास आश्रम को भी कलंकित कर रहे हैं। केवल लिंग=चिह्न विशेष धर्म का कारण नहीं होता। मनु जी ने स्पष्ट लिखा है—"न लिंगं धर्मकारणम्।"

धूर्त पाखण्डियों के चक्र में नहीं आना चाहिये, ये वे छद्मवेषी अधम पुरुष हैं जिनके विषय में चाणक्य ने कहा है—

"वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानामुपगमः।"

प्राण त्याग करना उत्तम है किन्तु ऐसे धूर्त पाखण्डी पुरुषाधमों की संगति में नहीं रहना चाहिये।

जो वास्तव में सच्चे साधु हैं उनका आदर, सत्कार तथा सत्संग अवश्यमेव करना चाहिये। क्योंकि—

साधुसंगतयो लोके सन्मार्गस्य च दीपकाः।
हार्दान्धकारहारिण्यो भासो ज्ञानविवस्वतः॥

साधु-सन्तों का सत्संग इस संसार में सन्मार्ग को दिखलाने के लिए प्रकाश स्तम्भ का काम करता है क्योंकि साधु महात्माओं का सत्संग हृदयरूपी गुहा से अज्ञानान्धकार को नष्ट करने के लिए ज्ञान-सूर्य है।

महर्षि दयानन्द जी महाराज लिखते हैं—

"परमेश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा देता है कि यज्ञ का अनुष्ठान, संग्राम[1] में शत्रुओं का पराजय, अच्छे अच्छे गुणों का ज्ञान, विद्वानों की सेवा, दुष्ट मनुष्य वा दुष्ट दोषों का त्याग...... और ईश्वर की उपासना तथा विद्वानों का समागम करके और सब विद्याओं को प्राप्त होके सबके लिए सब सुखों को उत्पन्न

१—जीवन संग्राम में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि शत्रुओं का पराजय करना चाहिये।

करने वाली उन्नति सदा करनी चाहिये।" (यजुर्वेदभाष्य १।१६)

सत्संग के विषय में इस वाक्य को सर्वदा स्मरण रक्खें—

"क्षणमिह सज्जनसङ्गतिरेका,
भवति भवार्णवतरणे नौका।"

सत्संग रूपी नौका क्षण भर में संसार सागर से पार तरने के लिये सहायक होती है।

कुसङ्ग के आधुनिक स्रोत

सिनेमा, रसकस, स्वांग, रामलीला, नाच-गाना आदि।

आज के युग में दूषित विचारधारा का सबसे अधिक प्रचार करनेवाले सिनेमा (चलचित्र) ही हैं। हमारी आचार-परम्परा, सभ्यता और संस्कृति पर कुठाराघात कर कामवासना का, विलासिता का तथा स्पष्ट रूप में दुराचार का दिग्दर्शन कर सम्पूर्ण वातावरण को विषय-विष से भर दिया है। इस दुष्ट पिशाच के चक्र में फंसकर लाखों-करोड़ों बालक-बालिका और नवयुवक तथा नवयुवतियाँ अपने चरित्र को भ्रष्ट कर चुके हैं और दिन-प्रतिदिन करते जा रहे हैं। इसी सिनेमा के परिणामस्वरूप सहस्रों नर-नारियों ने अपनी अमूल्य निधि यौवन को विषयाग्नि का इन्धन बना दिया है, लाखों परिवार उजड़ गये, किन्तु दुःख है कि आज भी इस पतन के भयंकर साधक सिनेमा को कला के आवरण से ढका जा रहा है। वास्तव में देखा जाये तो कला का नाम देकर देश के साथ गद्दारी की जा रही है। अनेक शताब्दियों में भी विदेशी शासक हमारे चरित्र की जो हानि नहीं कर सके उसको इस कला ने कुछ ही वर्षों में कर डाला। यदि इस कला का इसी प्रकार से स्वागत होता रहेगा तो भावी नवयुवकों की आचारहीनता पराकाष्ठा पर पहुँच जायेगी और सभ्यता एवं

संस्कृति को मुंह छिपाने को ठौर न मिलेगा।

भारत में सिनेमाघरों की संख्या ४००० के लगभग है, दो करोड़ (२,०००००००) व्यक्ति प्रतिदिन सिनेमा देखते हैं। अकेले देहली शहर में २७००० व्यक्ति प्रतिदिन सिनेमा देखते हैं। एक ओर वे व्यक्ति हैं जिन को पेट भर रोटी भी सुलभ नहीं और दूसरी ओर देश का ८५ करोड़ रुपया व्यभिचार के प्रचार में व्यय किया जा रहा है। हमारी इतनी बड़ी धनराशि हमारे ही विनाश में लगाई हुई है और हम बैठे-बैठे 'घर फूंक तमाशा' देखते रहते हैं।

ब्रह्मचर्य को नष्ट करने के लिये सिनेमा सब से बुरी कुसंगति है, अथवा यों समझें कि सिनेमा ब्रह्मचर्य का सबसे प्रबल शत्रु है। सिनेमा देखने वाला सात जन्म में भी वीर्यरक्षा नहीं कर सकता। क्योंकि इस में कामुकता, शृंगार, असभ्य-परिहास, चुम्बन, आलिंगन, तर्जन, उत्तेजन, नग्न-नृत्य आदि की भरमार होती है। अधिकतर फिल्में नवयुवकों को यही पाठ पढ़ाती हैं कि किस भांति किसी भले घर की लड़की को भ्रष्ट किया जाये। पतन की इतनी पराकाष्ठा होगई है कि फिल्म देखनेवाले नवयुवक के पास अपनी सगी बहिन भी सुरक्षित नहीं समझी जा सकती।

जब किसी सिनेमा देखने वाले व्यक्ति से सिनेमा देखने के विषय में पूछा जाता है कि आप सिनेमा क्यों देखते हैं? तब उत्तर में वह कहता है—"सिनेमा इस युग की सर्वोत्तम कला है, जब कार्य करते-करते मन ऊब जाता है तो मन बहलाव के लिये सिनेमा अच्छा साधन है, बहुत सी फिल्में शिक्षाप्रद होती हैं जिन से उत्तमोत्तम शिक्षायें मिलती हैं, इसलिये सिनेमा देखने में हानि ही क्या है? लोग व्यर्थ ही निन्दा करते रहते हैं" इत्यादि अनर्गल प्रलाप प्रारम्भ कर देता है।

उपरिलिखित सभी हेतु हमारे विचार से हेत्वाभास हैं। सर्व-

नाश के साधन को कला कहना या मानना ही सब से बड़ी भूल है। यदि दुर्जनतोष न्याय से इसे कला भी मान लें, तो क्या सिनेमाघर कला सिखलाने के विद्यालय हैं ? वहां चित्र दिखलाये जाते हैं, चित्रों के सम्भाषण और हाव-भावों से किसी कल्पित या ऐतिहासिक घटना का वर्णन किया जाता है। न कला की दृष्टि से सिनेमा के कार्यकर्त्ता सिनेमा दिखलाते हैं और न ही दर्शक देखते हैं। भद्दे गाने सुनकर शृङ्गार-रस से परिपूर्ण हाव-भावों से मन में कामवासना अवश्य अंकुरित हो जाती है और वह ब्रह्मचारी के पतन का कारण बन जाती है।

मनोरंजन का साधन मानकर सिनेमा देखना भी अज्ञान है। इसको मानसिक पतन का साधन अवश्य कहा जा सकता है, मनोरंजन का नहीं। सिनेमा देखने से मन की थकावट दूर नहीं होती, अपितु मन और भी निर्बल हो जाता है। सिनेमा के शृंगार-रस से परिपूर्ण वातावरण में सदाचार की जड़ कभी नहीं जम सकती। स्वामी आत्मानन्द जी महाराज ने 'मनोविज्ञान तथा शिवसंकल्प' पुस्तक में लिखा है—"सादगी सदाचार की जननी और शृङ्गार व्यभिचार का दूत है।"

मनोबल का साधन सदाचार है, सदाचार के अभाव में सिनेमा देखने से मनोरंजन नहीं होता, किन्तु मद्य के नशे की भांति ऐसा प्रतीत होता है। पीछे मानसिक शक्ति का ह्रास और निर्बलता का पता लगता है।

इसके अतिरिक्त चलचित्रों के देखने से नेत्र-ज्योति मन्द हो जाती है, इसी के परिणाम-स्वरूप आज छोटे-छोटे बालक भी उपनेत्र (ऐनक) लगाये फिरते हैं। सिनेमा देखते समय सहस्रों व्यक्ति बन्द भवन के अन्दर घुसकर बैठ जाते हैं, जहां पर न सूर्य

का प्रकाश है और न ही शुद्ध वायु का सञ्चार। ऐसी अवस्था में स्वास्थ्य भी चौपट हो जाता है।

लोग रात्रि के बारह बजे तक सिनेमाघरों में बैठे रहते हैं और प्रातःकाल आठ-नौ बजे तक पड़े सोते रहते हैं, ऐसे लोग स्वास्थ्य रक्षा तथा ब्रह्मचर्य-पालन तो क्या करेंगे, अपना जीवन निर्वाह भी पराश्रित होकर करते हैं।

फिल्मों को शिक्षाप्रद भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अच्छी से अच्छी फिल्म में भी साधारण जनता की वासना-तृप्ति के लिये कुछ न कुछ सामग्री अवश्य मिलेगी। यदि किसी फिल्म को शिक्षाप्रद भी मान लें, तब भी सिनेमा देखने का स्वभाव अवश्य हो जायेगा और वह पुनः सिनेमा देखने के लिये बाधित करेगा। सर्वदा शिक्षाप्रद ही फिल्में नहीं दिखलाई जातीं, विवश होकर गन्दी से गन्दी फिल्म देखनी पड़ेगी और उसका दुष्परिणाम आचार-भ्रष्टता सामने है ही। मेरे पास ऐसे पत्र सर्वदा आते रहते हैं जिनमें लुट-पिट कर भ्रष्ट हुये विद्यार्थी अपना रोना रोते हैं।

इसलिये तन, मन, धन और आत्मा सभी को चौपट करने वाले इस भयङ्कर कुसंग से विद्यार्थी, ब्रह्मचारी तथा अपने अमूल्य मानव जीवन से कुछ भी प्रीति रखनेवाले व्यक्ति को सर्वथा दूर रहना चाहिये।

इसी भांति सरकस, रासलीला, रामलीला, सांग, ड्रामा, नाटक, नाच-गानादि भी ब्रह्मचर्य को दूषित करनेवाले होने से सर्वथा त्याज्य हैं। महर्षि दयानन्द जी ने भी सत्यार्थप्रकाश में 'रामलीला' को 'रांडलीला' लिखा है और साथ-साथ नाच गानादि का भी सर्वथा निषेध किया है। क्योंकि ये ब्रह्मचर्यपालन

और विद्योपार्जन में बाधक हैं। कुसंग ब्रह्मचर्यपालन तथा विद्या-प्राप्ति का सबसे बड़ा विघ्न है। महर्षि दयानन्द जी ब्रह्मचारी के लिए सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं—"जो विद्या पढ़ने पढ़ाने के विघ्न है उनको छोड़ देवें, जैसा कुसंग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग, दुष्ट व्यसन जैसा मद्यादि[1] सेवन और वेश्यागमनादि, बाल्यावस्था में विवाह अर्थात् पच्चीसवें वर्ष से पूर्व पुरुष और सोलहवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह हो जाना......"इत्यादि।

इसी भांति सत्यार्थप्रकाश द्वितीय समुल्लास में महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं—

"वीर्य की रक्षा में आनन्द और नाश करने में दुःख प्राप्ति भी जना देनी चाहिये। जैसे देखो जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम, बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, सम्भाषण और स्पर्शादि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रह कर उत्तम शिक्षा पूर्णविद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता वह नपुंसक महाकुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह साहस, धैर्य, बल पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण, वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुम को यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा।"

इसी प्रकार पठन-पाठन विधि में महर्षि दयानन्द जी ने

1—यहां पर आदि शब्द से अफीम, भंग, चण्डू, चरस ताड़ी बीड़ी सिगरेट, गांजा, सुलफादि सभी मादक द्रव्यों का निषेध समझना चाहिये।

लिखा है—"मुख्य करके सामवेद का गान वादित्र वादन पूर्वक सीख और नारद संहिता आदि जो-जो आर्ष ग्रन्थ हैं उनको पढ़ें, परन्तु भड़वे, वेश्या और विषयासक्ति कारक वैरागियों के गर्दभ शब्दवत् व्यर्थ आलाप कभी न करें।" (सत्यार्थ० समु० ३)

पाठकवृन्द ! महर्षि दयानन्द जी महाराज ने जीवन को उत्तम बनाने के लिए तथा ब्रह्मचर्य पालन विद्योपार्जनादि के विषय में कितना स्पष्ट लिखा है। सभी मादक द्रव्य=नशे, सभी विषय एवं सभी प्रकार के कुसंग से पृथक् रहकर सर्वथा पवित्र तपस्वी जीवन बनाकर ही ब्रह्मचर्य पालन और विद्याध्ययन किया जा सकता है और कुसंग में फंसकर नशे तथा विषयों का सेवन करने से सर्वथा नष्ट हो जाता है, यह महर्षि के उपदेश से भली-भांति स्पष्ट हो गया है। अतः इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

ब्रह्मचर्य के साधन

(अष्टम भाग)

स्वाध्याय

स्वाध्याय की आवश्यकता

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

(महर्षि दयानन्द)

हम आर्य हैं वेद का पढ़ना-पढ़ाना हमारा परम धर्म है, इस परम धर्म का पालन करने के लिये हमें नित्यप्रति वेदों का स्वाध्याय करना चाहिये। यदि हम प्रतिदिन स्वाध्याय न करेंगे तो अपने धर्म से च्युत हो जायेंगे, पशु बन जायेंगे, इतना ही नहीं सर्वथा नष्ट हो जायेंगे। क्योंकि यह नियम है कि जब धर्मी धर्म को छोड़ देता है तब वह नष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ अग्नि को ले लीजिये, उष्णता अग्नि का धर्म है, जब तक उसमें उष्णता विद्यमान है तभी तक वह अग्नि है, किन्तु उष्णता धर्म के नष्ट हो जाने पर उसे अग्नि कोई नहीं कहता, वह राख के रूप में परिणत हो जाती है। ठीक यही अवस्था हमारी है, जब तक हम अपने धर्म का पालन करते हैं, प्रतिदिन वेदों का स्वाध्याय करते हैं, तब तक हम जीवित हैं, उन्नति के पथ पर अग्रसर हैं, हमारे अन्दर आर्यत्व=श्रेष्ठत्व स्थित है, अन्यथा हमारा आत्मा मर जाता है, पतित हो जाता है, आर्यत्व भी नष्ट हो जाता है। मनु जी लिखते हैं—

"वेदसंन्यासतः शूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत्"

वेद त्याग अर्थात् वेदों का स्वाध्याय न करने से मनुष्य शूद्र बन जाता है। इसलिये वेदों का स्वाध्याय नहीं छोड़ना चाहिये

"अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥"

वेदों का स्वाध्याय न करने से अत एव आचारहीन हो जाने पर तथा आलस्य-प्रमादादि के घेर लेने पर लोगों को मृत्यु आ-दबोचती है। इसके विपरीत वेदादि शास्त्रों का स्वाध्याय करने से, सदाचारी एवं आलस्य-प्रमादादि को छोड़ देने पर मृत्यु को भी मारा जा सकता है, मनुष्य उसके भय से मुक्त हो सकता है। वेद में लिखा है—

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत" (अथर्व० ११-५-१९)

ब्रह्मचर्य=वेदाध्ययन, ईश्वरचिन्तन और वीर्य की रक्षा करने रूपी तप के द्वारा विद्वान् लोग मृत्यु को मार डालते हैं और यह स्वाध्याय यज्ञ भी ऐसा है कि जन्म से मृत्युपर्यन्त=आजीवन करना चाहिये। किसी आश्रम में एक का, किसी में दो का और किसी में पांचों यज्ञों का विधान हमारे शास्त्रकारों ने किया है, किन्तु स्वाध्याय-यज्ञ सभी आश्रमों में अनिवार्य है।

ब्रह्मचर्य मुख्यतया है ही वेदादि के अध्ययन के लिये, सब नहीं तो कम से कम एक वेद तो अवश्य ही पढ़ना चाहिये, तभी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का विधान है—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहाश्रममाविशेत् ॥ (मनु० ३-२)

चारों वेदों को या दो वेदों को अन्यथा न्यून से न्यून एक वेद को यथाक्रम=शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्द-ज्योतिषादि

वेदांगों के अध्ययन पूर्वक पढ़कर, 'गुरुणानुमतः' गुरु= आचार्य की आज्ञा लेकर ब्रह्मचारी को गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिये।

गृहस्थ में जाकर भी स्वाध्याययज्ञ नित्यप्रति करना आवश्यक है। समावर्तन के समय आचार्य अन्तेवासी को सावधान करता है—

"स्वाध्यायान्मा प्रमदः" स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्" (तैत्तिरीयारण्यक शिक्षावल्ली ७।११)

हे शिष्य तू स्वाध्याय में कभी प्रमाद न करना, स्वाध्याय और प्रवचन नित्य प्रति करते रहना।

इसी प्रकार तृतीय वानप्रस्थाश्रम भी तप और स्वाध्यायादि के लिए है। महर्षि मनु ने भी कहा है—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥

(मनु० ६।७)

वानप्रस्थी को चाहिये कि वह जितेन्द्रिय होकर सर्वदा स्वाध्याय करने में रत रहे, सांसारिक विषयों से इन्द्रियों का दमन कर, सब पर कृपादृष्टि रखता हुआ विद्यादि का दान करता रहे किन्तु प्रत्युपकार में किसी से कुछ न ले, इस प्रकार व्यवहार करे।

चतुर्थाश्रम संन्यास में सभी सांसारिक साधनों का निषेध करते हुए स्वाध्याय की आवश्यकता बतलाई है—

"संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत्।"

संन्यासी सब सांसारिक कार्यों से विरत हो जाये किन्तु वेद

के स्वाध्याय को न छोड़े, वह संन्यासी के लिए भी अनिवार्य है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास सभी आश्रमों में स्वाध्याय यज्ञ को शास्त्रकारों ने अत्यन्त आवश्यकता बतलाई है। अन्य सांसारिक कार्यों में अवकाश (छुट्टी) का भी विधान है, जैसा कि आजकल भी प्रचलित है किन्तु स्वाध्याय इतना आवश्यक है जितना कि श्वास प्रश्वास। जिस प्रकार श्वास प्रश्वास यावज्जीवन निरन्तर चलते ही रहते हैं, उसी भांति स्वाध्याय-यज्ञ भी नित्यप्रति अखण्डित रूप में चलता रहना चाहिये।

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यिके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥
(मनु० २।६३)

नैत्यिके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम्।

वेदादि के पढ़ने स्वाध्यायादि नित्यकर्मों के करने में कभी अनध्याय नहीं होता, सर्वदा अध्याय ही रहता है, क्योंकि स्वाध्यायादि कर्म ही ब्रह्मयज्ञ कहलाते हैं, इस ब्रह्मयज्ञ का सभी आश्रमों में सभी वर्णों में सर्वदा सर्वत्र अनुष्ठान करना चाहिये।

यदि किसी कार्य विशेष (नौकरी आदि) के कारण स्वाध्याय में बाधा पड़ती हो तो उस कार्य को भी छोड़ देने का विधान है, किन्तु स्वाध्याय इतना आवश्यक है कि इसको कभी नहीं छोड़ना चाहिये।

'सर्वान् सन्त्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः"

इसीलिये अपनी जीवन यात्रा को चलाने के लिये अन्य कार्यों को करते हुए स्वाध्याय भी नित्यप्रति अवश्य ही करना चाहिये। इसकी सर्वोत्तम विधि यह है कि अपने सभी कार्यों के लिये समय विभक्त कर लेना चाहिये, अपनी दिनचर्या स्वयं सुविधानुसार बनाकर तदनुसार चलना चाहिये, उसमें स्वाध्याय के लिये भी कुछ समय नियत कर लेना चाहिये।

स्वाध्याय के लिए प्रातःकाल का ही समय सबसे उत्तम है, महर्षि मनु ने भी यही निर्देश किया है—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च॥

(मनु० ४।६८)

प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठकर धर्म, अर्थ, शारीरिक क्लेश तथा उनके कारण और वेद के तत्त्व का चिन्तन करना चाहिये। इसलिए प्रत्येक नर-नारी को विशेषतया ब्रह्मचारी को प्रातःकाल ब्राह्म-मुहूर्त में उठकर नित्यकर्मों से निवृत्त होकर शान्तचित्त हो वेदादि सत्य शास्त्रों का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।

आजकल लोगों में स्वाध्याय के प्रति अरुचि हो गई है। आधुनिक ढंग के व्यक्ति स्वाध्याय की कोई आवश्यकता ही नहीं समझते। इसीलिये दिन-प्रतिदिन स्वाध्याय का अभाव-सा होता जा रहा है और मानव समाज से मानवता मुंह छिपाकर भाग रही है तथा दानवता का साम्राज्य बढ़ता जा रहा है। इस बढ़ती हुई दानवता को, दुराचार=व्यभिचार की बाढ़ को रोकने के लिये स्वाध्याय करना परमावश्यक है। स्वाध्याय के अभाव में हमारा यह भयंकर पतन हुआ है अतः पुनरुत्थान स्वाध्याय करने से ही हो सकेगा। इसलिए स्वाध्याय करने का सभी को व्रत लेना चाहिये और उसका नियमित रूप से पालन करना चाहिये। जिस प्रकार से शरीर के लिये भोजन आवश्यक है उसी प्रकार आत्मा के लिये स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है।

स्वाध्याय करने के विषय में अधिकतर लोग यही मिष बनाते हैं कि हमें स्वाध्याय के लिये (फुरसत) ही नहीं मिलती। किन्तु यह सर्वथा मिथ्या है, समय मनुष्य के अधिकार में है, दिन रात के २४ घण्टों में से कम से कम एक घण्टा स्वाध्यायार्थ अति सुगमता

से निकाला जा सकता है। उसी एक घण्टे के समय में यदि प्रति-दिन २० पृष्ठ भी किसी पुस्तक का अध्ययन किया जाये तो वर्ष के ३६५ दिनों में ७३०० पृष्ठ पढ़े जा सकते हैं, जीवन के इतने लम्बे समय में विचारिये कितने सहस्र ग्रन्थों का स्वाध्याय किया जा सकता है।

किन्तु हम अपने जीवन के अमूल्य समय को शरीर की बनावट सजावट, खेल-कूद और गप्प गोष्ठियों में व्यर्थ खो देते हैं या आलस्य और प्रमाद में पड़े-पड़े जीवन को वृथा गंवा देते हैं। किन्तु इसे सदा स्मरण रखें—जो व्यक्ति अपने समय को व्यर्थ खोता है, वह अपने जीवन को खोता है, क्षण-क्षण से जीवन बनता और बिगड़ता है। बुद्धिमान् वही है जो अपने समय का सदुपरोग करता है।

स्वाध्याय का अर्थ

सु या स्व उपपद में होने पर आङ् अधिपूर्वक अध्ययनार्थक 'इङ्' धातु से 'इङश्च' ३।३।२१ इस पाणिनीय सूत्र से घञ् प्रत्यय करने पर 'स्वाध्याय' शब्द सिद्ध होता है। 'सुष्ठु आवृत्य अध्ययनं स्वाध्याय:' स्वमध्ययनं स्वाध्याय:' भलीभांति आवृत्ति पूर्वक अध्ययन करना, या अपने लिये अथवा स्वयं अध्ययन करना। स्व शब्द के आत्मा, आत्मीय आदि अनेक अर्थ होने के कारण स्वाध्याय शब्द के भी विविध अर्थ हो जाते हैं।

योगदर्शन के व्यासभाष्य में स्वाध्याय शब्द का अर्थ महर्षि व्यास ने इस प्रकार किया है—"स्वाध्याय:—प्रणवादिपवित्राणां जप: मोक्षशास्त्राध्ययनं वा" (२।१ तथा २।३२ सूत्रभाष्ये) प्रणव =ओम् गायत्र्यादि का जप करना या मोक्षशास्त्र आध्यात्मिक

ग्रन्थ वेद, दर्शन, उपनिषदादि का पढ़ना स्वाध्याय कहलाता है।

सभी कोषकारों ने स्वाध्याय शब्द को वेदाध्ययन शब्द का पर्यायवाची या समानार्थक माना है—

"स्वाध्यायः। वेदे। स्वाभिमतप्रणवादिमन्त्रजपे। ब्रह्मयज्ञे वेदाध्ययने। फलवदर्थावबोधपर्यन्ताध्ययने। उपनिषद्ग्रन्थावृत्तौ। मोक्षशास्त्राणामध्ययने। सु अतीव आवृत्य अध्ययनम्। स्वार्थमध्ययनं वा।"
(शब्दार्थचिन्तामणिः)

"स्वाध्यायः। सुष्ठु आवृत्य अध्यायो वेदाध्ययनमिति।"
(शब्दकल्पद्रुमवृहदभिधानम्)

स्वाध्यायः स्याज्जपः" "द्वे वेदाध्ययनस्येति' तट्टीका।
(अमरकोषः)

"स्वाध्यायो जप इत्युक्तो वेदाध्ययनकर्मणि।"
(शब्दरत्नावली)

"द्वे आवृत्य वेदाध्ययने। सु सुकृताय आवृत्य अध्यायोऽधितिः स्वाध्यायः।"
(भरतः)

"सम्यक् रूप से शास्त्रमात्र के अध्ययन को ही स्वाध्याय कहते हैं।"
(हिन्दी विश्वकोष)

इस प्रकार सभी कोषकार स्वाध्यायशब्द का अर्थ वेद, दर्शन, उपनिषदादि शास्त्रों का अध्ययन करना, आत्मकल्याणार्थ अध्ययन करना, आत्मचिन्तन, ईश्वरभक्ति, प्रणवादिजप करना इत्यादि अर्थ करते हैं। उसी प्रकार 'स्वाध्यायी और 'स्वाध्यायवान्' शब्द भी विशिष्ट वेदाध्यायी के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। यथा—

स तूर्ध्वरेतास्तपसि प्रसक्तः, स्वाध्यायवान् वीतभयः कृतात्मा।
चचार सर्वां पृथिवी महात्मा, न चापि दारान् मनसाप्यकाङ्क्षत॥
(महाभारत १।४०।१०)

स्वाध्याय, ब्रह्मचर्यपालन आदि तप में लगा हुआ, भय शोकादि से रहित, ऊर्ध्वरेता और जितेन्द्रिय होकर महात्मा जरत्कारु सम्पूर्ण भूमण्डल पर भ्रमण करने लगा, उसने कभी मन से भी स्त्री आदि की इच्छा नहीं की।

इस प्रकार अश्लील, अनार्ष, भद्दे, उत्तेजक नाटक-उपन्यास, कहानी, सिनेमा, रागिणी, रामलीला, रासलीला आदि की किसी भी प्रकार की पुस्तक पढ़ लेना स्वाध्याय नहीं कहा जा सकता, जो ऐसा समझते हैं वे भूल करते हैं। स्वाध्याय आत्मोन्नति का सर्वोत्तम साधन है, किन्तु इन नाटकादि के अध्ययन से उन्नति के स्थान में अवनति ही होगी।

कुछ सज्जन वृत्तपत्र (अखबार) पढ़कर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, उनकी दृष्टि में यही स्वाध्याय है किन्तु वृत्तपत्र पढ़ने को स्वाध्याय समझना भी अज्ञान है। स्वाध्याय शब्द का अर्थ हम सप्रमाण ऊपर लिख चुके हैं और आगे चलकर स्वाध्याय करने योग्य ग्रन्थों का नामोल्लेख भी किया जायेगा, उन्हीं ग्रन्थों का अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है, नाटक-उपन्यास और वृत्तपत्रादि पढ़ना कदापि नहीं।

स्वाध्याय की महिमा

हमारे शास्त्रों में स्वाध्याय की महिमा बहुत बतलाई गई है। वेद, स्मृति, उपनिषद्, दर्शन और ब्राह्मणग्रन्थों में स्वाध्याय के महत्त्व पर प्रभूत प्रकाश डाला गया है। स्वाध्याय के महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए ही हमारे पूर्वज ऋषि महर्षियों ने हमारी जीवनचर्या में स्वाध्याय को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। देखिये पञ्च महायज्ञों में स्वाध्याय एक यज्ञ[1] है। योग के आठ

1. "स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः (शतपथ० ११।५।६।३)

अङ्गों में स्वाध्याय भी उपाङ्ग[2] है। मनु महाराज ने स्वाध्याय को सर्वोत्तम तप बतलाया[3] है और धर्म के, सप्तम लक्षण धी=विमल बुद्धि की प्राप्ति का साधन भी स्वाध्याय ही है। योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास जी ने लिखा है —

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययागसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

स्वाध्याय के द्वारा योग की ओर प्रवृत्त होकर योग से स्वाध्याय का चिन्तन करना चाहिये, स्वाध्याय तथा योगाभ्यास के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है। छान्दोग्योपनिषत् के अन्त में भी लिखा है—

"आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकभिसम्पद्यते। न च पुनरावर्तते। (८।१५।१)

ब्रह्मचारी आचार्य-कुल से विधिपूर्वक वेद पढ़कर गुरु की सेवा शुश्रूषा आदि पूर्णतया करता हुआ समावर्तन संस्कार करके कुटुम्ब-गृहाश्रम में रहता हुआ, पवित्र स्थान में वेदादि शास्त्रों का स्वाध्याय करता हुआ, अपने परिवार एवं जनता को धार्मिक बनाता हुआ, आत्मा में सब इन्द्रियों को स्थापित कर, तीर्थ स्थानों से अन्यत्र भी प्राणियों की हिंसा न करता हुआ, मरण पर्यन्त इस प्रकार का व्यवहार करता हुआ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, तथा आवागमन के चक्र से छूट जाता है।

---

२. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ (योग २।३२)
३. वेदाभ्यासो हि विप्राणां परमं तप उच्यते।
ब्रह्मयज्ञः स विज्ञेयः षडङ्गसहितस्तु यः ॥ (मनुस्मति)

शतपथ ब्राह्मण का एक ब्राह्मण सम्पूर्ण स्वाध्याय की प्रशंसा का है—

"अथातः स्वाध्यायप्रशंसा। प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहरहरर्थान् साधयते सुखं स्वपिति परम-चिकित्सक आत्मने।

भवतीन्द्रियसंयमश्चैकारामता च प्रजावृद्धिर्यशो लोकपङ्क्तिः। प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यमति-रूपचर्यां यशोलोकपङ्क्तिम्। लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मण-म्भुनक्त्यर्चया च दानेन चेज्यया चावध्यतया च।

शतपथ ब्रा० ११।५।६।१

अब स्वाध्याय की प्रशंसा=महिमा बतलाते हैं, "स्वाध्याय और प्रवचन अत्यन्त प्रिय विषय हैं, शान्तचित्त से स्वाध्याय करने वाला व्यक्ति स्वतन्त्रता से अपने कार्य सिद्ध करता है, आनन्द से रहता है, अपने हिताहित का ध्यान रखता है, संयमी, बुद्धिमान् और यशस्वी बन जाता है, बुद्धि की निर्मलता से स्वाध्यायशील व्यक्ति धर्म अर्थ काम और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, सच्चा ब्राह्मणत्व, यथोचित आचार-व्यवहारवान् और लोगों का विश्वास-पात्र बन जाता है, सब ओर से उसे यथेष्ट सम्मान, धनादि प्राप्त होते हैं।

ये ह वै के च श्रमाः। इमे द्यावापृथिवीऽअन्तरेण स्वाध्यायो हैव तेषां परमता काष्ठा य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वा-ध्यायोऽध्येतव्यः। (शतपथ ब्रा० का० ११ अ० ५ ब्रा० ६ क० २)

संसार में जितने भी कार्य हैं स्वाध्याय उन सब में श्रेष्ठ है, कठिन कार्य है, ऐसा जानकर जो स्वाध्याय करता है वह तत्त्व को जान लेता है। इसलिये स्वाध्याय करना चाहिये।

ऋग्वेद के ज्ञान सूक्त में स्वाध्याय की महिमा इस प्रकार बतलाई है—

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥
(ऋ० १०। ७१। ६)

(यः) जो व्यक्ति (सचिविदम्) परमेश्वर को प्राप्त कराने या उसका ज्ञान करवाने वाले (सखायम्) वेद के स्वाध्याय रूपी मित्र को (तित्याज) छोड़ देता है, (तस्य) उस व्यक्ति की (वाचि अपि) वाणी में भी (न भागो अस्ति) कुछ भजनीय=सेवनीय तत्व नहीं है। (यत् ईम् शृणोति) वह जो कुछ सुनता है (अलकम् शृणोति) सब मिथ्या ही सुनता है और (न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्) वह सुकृत के, पुण्य के मोक्ष के मार्ग को नहीं जान सकता। इसलिये परमसुख मोक्ष की प्राप्ति के लिये वेदों का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।

स्वाध्याय का फल

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु॥

जो मनुष्य विधिपूर्वक एक वर्ष तक शुद्ध एकाग्रचित्त होकर स्वाध्याय करता है उसको ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेदादि का ज्ञान अर्थात् ज्ञान कर्म उपसनादि का फल मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में मधु तथा पय का अर्थ ऋचा और घृत का अर्थ साम किया है[1]

ऋग्वेद और सामवेद में स्वाध्याय के फल का वर्णन करने वाले ६ मन्त्र हैं जिन में स्वाध्याय के नाना लाभों का विस्तृत

1—मधु ह वा ऋचः (११। ५। ७। ५)
पय आहुतयो ह वा एता देवानां यदृचः (११। ५। ६। ४)
घृतं ह सामानि (११। ५। ७। ५)

वर्णन किया है, उनमें से केवल ३ मन्त्र यहां उद्धृत किये जाते हैं—

पावमानीरध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्।
स सर्वं पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना ॥
(ऋ० ८। ६७। ३१ ॥ साम० उ० अ० १० कं० ६)

पावमानी अर्थात् सब को पवित्र करनेवाली ईश्वर प्रदत्त एवं ऋषियों द्वारा सञ्चित ऋचाओं का जो अध्ययन करता है, वह पवित्र आनन्द रस का आस्वादन करता है।

पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम्।
कामान् समर्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहृताः ॥
(सा० उ० अ० १० ख० ६)

पावमानी ऋचायें इस लोक और परलोक दोनों को धारण करने में हमारी सहायक हों, देव=उत्तम विद्वान् या श्रेष्ठ इन्द्रियों द्वारा प्राप्त करवाई हुई ये ऋचायें हमारी शुभकामनाओं को पूर्ण करें।

पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छन्ति नान्दनम्।
पुण्यांश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति ॥
(साम० उ० अ० १० ख० ६)

ये पावमानी ऋचायें कल्याणकारिणी हैं, इनके द्वारा मनुष्य आनन्द को प्राप्त होते हैं, इन ऋचाओं का अर्थात् वेद का स्वाध्याय करनेवाला इस लोक में उत्तम भोग का उपभोग करता हुआ मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने स्वाध्याय का फल इस प्रकार लिखा है—

"स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः" (योगदर्शन २-४४)

स्वाध्याय के द्वारा मनुष्य इष्टदेवता=यथेच्छ शुभ गुण की प्राप्ति कर सकता है, कोई महापुरुष इस संसार में नहीं है किन्तु उसके ग्रन्थों का स्वाध्याय कर हम उस से, उसके विचारों से

सगंति कर यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं। अत एव इस सूत्र का भाष्य करते हुए महर्षि व्यास ने लिखा है—"देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्ये चास्य वर्तन्ते।" विद्वान् ऋषि महर्षि आदि स्वाध्यायशील के दर्शन=ज्ञान में आते हैं और इसके कार्य को सिद्ध कर सकते हैं अर्थात् उनके ग्रन्थों का स्वाध्याय कर स्वाध्यायवान् व्यक्ति अपने कार्य को सिद्ध कर लेता है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है—

"यद्‌यद्ध वायं छन्दस्यः स्वाध्यायमधीयते तेन तेन हैवास्य यज्ञक्रतुनेष्टम्भवति, य एवं विद्वान्स्वाध्यायमधीते, तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (शतपथ० का० ११ अ० ५ ब्रा० ७ कं० १)

"स्वाध्यायशील मनुष्य जिस-जिस वेद का स्वाध्याय करता है उसको उस-उस वेद का वही फल मिलता है जो उस वेद से यज्ञ करने पर होता है, अतः स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।"

जन्म से कोई ब्राह्मणादि नहीं होता किन्तु सब अपने-अपने गुण कर्मानुसार ही होते हैं। शूद्रकुल में उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण बन जाता है और ब्राह्मणकुलोत्पन्न व्यक्ति शूद्र बन जाता है[1]। मनु महाराज लिखते हैं—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ (मनु० २।२८)

इस श्लोक का अर्थ ऋषि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश में इस प्रकार लिखा है—

"(स्वाध्याय) सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने (व्रतैः) ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि नियम पालने (होमैः) अग्निहोत्रादि होम सत्य का ग्रहण

१—शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ (मनु० १०।६५)

असत्य का त्याग और सत्य विद्याओं का दान देने (त्रैविद्येन) वेदस्थ कर्मोपासनाज्ञान विद्या के ग्रहण (इज्यया) पक्षेष्ट्यादि करने (सुतैः) सन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैः) ब्रह्म, देव, पितृ; बलिवैश्वदेव और अतिथियों के सेवन रूप पञ्चमहायज्ञों और (यज्ञः) अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्या विज्ञानादि यज्ञों के सेवन से इस शरीर को ब्राह्मी अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप ब्राह्मण का शरीर किया जाता है। इतने साधनों के बिना ब्राह्मण शरीर नहीं बन सकता।"

ब्राह्मण अर्थात् सर्वोत्तम पुरुष बनने के लिए भी सर्वप्रथम स्वाध्याय की ही आवश्यकता है। जब हम अपने से अधिक विकसित, अनुभवी, वेद-शास्त्रवेत्ता ऋषि-महर्षि और विद्वानों के ग्रन्थों का स्वाध्याय करते हैं, अपने मन से उनके विचारों को ग्रहण करते हैं तब हमारी मानसिक शक्ति बढ़ती है, तदनुकूल आचरण करने से हम भी वैसे ही विद्वान् धार्मिक पुरुष बन सकते हैं। स्वाध्याय के लाभ कहाँ तक वर्णन किये जायें, केवल स्वाध्याय के ही बल पर एक साधारण व्यक्ति उच्चकोटि का विद्वान् बन सकता है। ऐसे सहस्रों उदाहरणों का इतिहास साक्षी है—

बरमौण्ट (अमेरिका) के एक मोची चार्लस सी फ्रास्ट ने अपनी आजीविका (नौकरी) के कार्य से प्रतिदिन एक घण्टा निकाल कर १० वर्ष तक एक घण्टा गणित के अध्ययन में लगाया। केवल उस एक घण्टे के स्वाध्याय के आधार पर उच्चकोटि का गणितज्ञ हो गया।

प० गुरुदत्त एम० ए० ने एम० ए० की उपाधि लेने तक ही साथ-साथ वैदिक ग्रान्थों का स्वाध्याय कर डाला और उसी गुरुदत्त एम० ए० ने महर्षि दयानन्द जी के देहावसान के पश्चात् सभी पाश्चात्यों के वेद सम्बन्धी सभी आक्षेपों का वह मुंहतोड़ उत्तर

दिया जिससे वे अवाक् रह गये। पं० गुरुदत्त जी ने गुरुमुख से वेदवेदांगों का विधिपूर्वक अध्ययन नहीं किया किन्तु स्वाध्याय के ही कारण इतने उच्चकोटि के विद्वान् बन गये।

इसी प्रकार स्वामी दयानन्द जी महाराज, पं० चमूपति जी एम० ए०, पं० लेखराम जी महाराज तथा महात्मा नारायण स्वामी जी आदि सभी महापुरुषों के जीवनचरित्रों को पढ़िये, ये सभी महापुरुष स्वाध्याय के ही बल पर इतने उच्चकोटि के विद्वान् लेखक, वक्ता शास्त्रार्थमहारथी आदि बने थे और आजकल भी सैकड़ों ऐसे विद्वान् हमारी दृष्टि में हैं जिन्होंने स्वाध्याय के द्वारा ही सब कुछ प्राप्त किया है। किन्तु विस्तारभय से यहां पर अधिक नहीं लिखा जा सकता।

महात्मा गांधी जी ने लिखा है—

"अच्छी पुस्तकों के पास होने से हमें अपने भले मित्रों के साथ रहने की नहीं खटकती। जितना ही मैं पुस्तकों का अध्ययन करता गया उतनी ही मुझे उनकी विशेषतायें मालूम होती गईं। जिसे पढ़ने का शोक है, वह हर जगह सुखी रह सकता है।"

अतः स्वाध्याय के लाभों को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति को स्वाध्यायशील बनना चाहिये।

स्वाध्याय का क्रम

स्वाध्याय का क्रम क्या है? यह एक विचारणीय विषय है। यह तो हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि स्वाध्याय वेदादि शास्त्रों का पठन-पाठन ही कहलाता है। अन्य अनार्ष अश्लील ग्रन्थ तथा वृत्तपत्रादि का नहीं। प्राचीनकाल में वेदों को अधिगत करने के लिये आज की भांति नाना ग्रन्थों की आवश्यकता न थी, गुरु शिष्य को वेदार्थ बतला देता था और शिष्य उसे कण्ठस्थ कर लेता था, इसीलिये वेदों को श्रुति कहा जाता था। किन्तु कालान्तर में

जब शक्ति का ह्रास होने लगा, शिष्य गरुमुख से वेदार्थ को समझने में असमर्थ होगये तब वेदांग आदि की रचना हुई। यास्काचार्य जी ने निरुक्त में लिखा है—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः, तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृत-धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे, बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदांगानि च॥"

(नि० १।२०)

सृष्टि के प्रारम्भ में साक्षात्कृतधर्मा=वेदार्थ को साक्षात् करने वाले ऋषि हुए, उन्होंने वेदार्थानभिज्ञ लोगों को उपदेश के द्वारा वेदमन्त्रों का अर्थज्ञान करवाया। किन्तु कालान्तर में जब शिष्य उपदेश के द्वारा वेदार्थ जानने में असमर्थ होगए तब ऋषियों ने सुगमता से वेदार्थ को ग्रहण करवाने के लिये निघण्टु निरुक्तादि वेदांग उपांगों की रचना की।

किन्तु आज हमारे समक्ष एक और समस्या उपस्थित हो गई है, आजकल वेदवेदांगों के पठन-पाठन का ही लोप होता जा रहा है, प्रथम तो पढ़ने वाले ही नहीं मिलते और यदि कोई पढ़ना भी चाहता है तो पढ़ाने वाले बिरले ही मिलते हैं। ऐसी अवस्था में सुगम उपाय यही है कि जो जो ग्रन्थ, ऋषि महर्षि एवं आधुनिक धार्मिक विद्वानों के बनाये हुये हैं उनका स्वाध्याय करना चाहिये।

स्वाध्याय का क्रम अपनी योग्यता के अनुसार स्वयं ही निश्चित करना होगा, या किसी विद्वान् गुरु आचार्य आदि से पूछकर भी निश्चित किया जा सकता है। स्वाध्यायक्रम निश्चित करने के लिये योग्यता ही मानदण्ड है। यदि प्राथमिकशाला का बच्चा महाविद्यालय या विश्वविद्यालय की कक्षा में जाकर बैठेगा तो उसके पल्ले कुछ न पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार यदि साधारण अक्षर बोध वाला व्यक्ति वेद को पढ़ना चाहे तो नहीं पढ़ सकता।

मनु महाराज ने लिखा है—

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥

मनुष्य ज्यों-ज्यों शास्त्रों का परिशीलन करता जाता है त्यों-त्यों उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि होती जाती है और उसकी रुचि भी शास्त्रों के प्रति बढ़ती जाती है ।

इसलिये योग्यतानुसार प्रथम छोटे-छोटे ग्रन्थों का स्वाध्याय कर उत्तरोत्तर वृद्धि करनी चाहिये । पूर्णतया कल्याण तब होगा जब महर्षि दयानन्द जी द्वारा निर्दिष्ट प्राचीन आर्षपाठविधि के अनुसार यथाविधि वेदादि शास्त्रों को पढ़ा जायेगा । जो आनन्द गंगोत्री का जल पान करने से मिलता है वह हुगली के गन्दे जल के पीने से किस प्रकार मिल सकता है ? अतः यथाविधि ही शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये किन्तु जो विधिपूर्वक वेद को पढ़ने में असमर्थ हैं उन्हें भी स्वाध्याय के द्वारा उन्नति=आत्म-कल्याण अवश्य ही करना चाहिये ।

अक्षरबोध के पश्चात् महर्षि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, पं० गुरुदत्त विद्यार्थी, महात्मा हंसराज, लाला लाजपतराय, भीष्म पितामह, हनुमान्, स्वामी शङ्कराचार्य, ब्र० रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर 'आजाद', सरदार भगतसिंह आदि के जीवनचरित्रों का स्वाध्याय करना तदनन्तर इतिहास, धर्मशास्त्र, ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थ, वेदभाष्य आदि योग्यता के अनुसार पढ़ने चाहियें ।

स्वाध्याय और श्रावणी

स्वाध्याय तथा श्रावणी पर्व का सम्बन्ध प्राचीन काल से ही चला आता है । मनुस्मृति में लिखा है—

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि ।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥
(म० ४—९५)

श्रावण या भाद्रपदमास की पूर्णिमा को यथाविधि उपाकर्म करके साढ़े चार मास तक वेदों का अध्ययन करना चाहिये।

कूर्म पुराण में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है—

उत्सृज्य ग्रामनगरं मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान्।
अधीयीत शुचौ देशे ब्रह्मचारी समाहितः।

(उपविभाग अ० १३)

साढे चार मास तक ग्राम नगर आदि से पृथक् स्वच्छ स्थान में जाकर, ऐकाग्रचित्त और जितेन्द्रिय होकर वेदों का स्वाध्याय करना चाहिये।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य-स्मृति, बोधायन स्मृति, वसिष्ठस्मृति, वाल्मीकि रामायण तथा आश्वलायन-पारस्कर-लोगाक्षि आदि गृह्य-सूत्रों में भी श्रावण मास में वेदाध्ययन=विशेषतया वेद के स्वाध्याय का विधान मिलता है।

श्रावणी पर किया क्या जाता है? पुराने का त्याग नवीन का ग्रहण। पुराने जीर्ण यज्ञोपवीत, मेखलादि का विसर्जन और स्वाध्याय क्रम में परिवर्तन किया जाता है। श्रावण से पौष तक चार-पांच मास तक विशेषतया वेदों का स्वाध्याय किया जाता है और तदनन्तर वेदांगों का। श्रावणी के आने पर द्वितीय वर्ष पुनः पूर्ववत् वेदों का स्वाध्याय प्रारम्भ कर दिया जाता है।

श्रावणी का विशेष महत्त्व वेदों के अध्ययन के ही कारण है। वेद सभी सत्य विद्याओं के मूल ग्रन्थ हैं, संसार की सभी विद्यायें सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल बीज रूप से वेदों में निहित हैं।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वार आश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥

(मनुस्मृति)

ब्राह्मणादि चारों वर्ण, ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम अर्थात् सम्पूर्ण वर्णाश्रम धर्म, भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन सब का

ज्ञान वेद के अध्ययन से होगा। धर्म के चार लक्षण—(वेदः, स्मृतिः, सदाचारः, स्वस्य च प्रियमात्मनः) में वेद का सर्वप्रथम स्थान है, क्योंकि—(वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' मनु) वेद ही धर्म का उत्पत्ति स्थान है, अतः वेदविहित धर्म तद्विरुद्ध अधर्म समझना चाहिये।

स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य

स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है, वेदादि पवित्र ग्रन्थों का स्वाध्याय किये बिना मनुष्य के विचार शुद्ध नहीं रह सकते, बना संकल्प शुद्धि के ब्रह्मचर्य पालन या वीर्यरक्षा कर सकना सर्वथा असम्भव है। ब्रह्मचर्य पालन या वीर्यरक्षा के बिना सब कुछ थोथा है, निष्फल और निस्सार है। संसार में बिना वीर्यरक्षा किये कोई भी व्यक्ति किसी महान् कार्य के करने में सफल नहीं हुआ, जिन्होंने वीर्यरक्षा की वे सर्वत्र सफल ही सफल होते गये। निःसन्देह वीर्यरक्षा सफलता को कुञ्जी है, 'ब्रह्मचर्यं पुरुषार्थस्य साधनम्' ब्रह्मचर्य पुरुषार्थचतुष्टय=धर्म अर्थ काम और मोक्ष का साधन है। उपनिषद् भी कहती है—"यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति" श्रेयोमार्गगामी जिस प्रभु की (मोक्ष की) कामना से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

प्राचीन काल में स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य का बहुत मान था। तैत्तिरीयारण्यक में एक कथा आती है—

"भरद्वाज ने तीन आयु तक ब्रह्मचर्य धारण कर विद्या पढ़ी, जब वह वृद्ध होकर मृत्यु शय्या पर पड़ा था तब इन्द्र ने उसके पास आकर कहा—भरद्वाज ! यदि तुम को चौथी आयु दी जाये तो उसका क्या करोगे ? भरद्वाज ने उत्तर दिया कि उस चौथी आयु में भी ब्रह्मचर्य धारण कर विद्या पढ़ूंगा।

ब्रह्मचर्य या ब्रह्मचारी शब्द स्वयं बतला रहे हैं कि वेद पढ़ना

वेदों का स्वाध्याय करना ब्रह्मचारी का परम धर्म है। शब्द को तोड़ने-मरोड़ने की आवश्यकता नहीं, ब्रह्म का अर्थ है—ईश्वर वेद और ज्ञान; चर्य=चिन्तन अध्ययन उपार्जन, अतः ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ हुआ—ईश्वरचिन्तन, वेदाध्ययन, ज्ञानोपार्जन। वेदों का स्वाध्याय करना ब्रह्मचर्य पालन में परम सहायक और अंग है। महात्मा नारायण स्वामी जी ने भी लिखा है—

"स्वाध्याय ब्रह्मचर्य का साधन है"

अष्टाध्यायी के भाष्यकार महर्षि पतञ्जलि जी लिखते हैं—"चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति, आगमनकालेन, स्वाध्याय-कालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति" (नवाह्निक १. १. १.)

अर्थात् चार प्रकार से विद्या की प्राप्ति भलीभांति होती है—आगमकाल=गुरुमुख से पढ़ना, स्वाध्यायकाल=पढ़े हुए का स्वय स्वाध्याय करना, पश्चात् उसका प्रवचन और व्यवहार=प्रयोग करना। इसी प्रकार विद्याप्राप्ति और ब्रह्मचर्य पालन के लिये स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है। दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे बिना स्वाध्याय किये ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं की जा सकती, उसी प्रकार बिना ब्रह्मचर्य पालन=इन्द्रियदमन किये स्वाध्याय भी भलीभांति नहीं किया जा सकता। स्वाध्याय काल में चित्त और इन्द्रियां विक्षिप्त हैं तो स्वाध्याय करने से विशेष लाभ नहीं होता, ऐसी, अवस्था में सब किया-कराया व्यर्थ हो जाता है। अतः इन्द्रिय दमन=ब्रह्मचर्य स्वाध्याय के लिये और स्वाध्याय ब्रह्मचर्य पालन के लिये आवश्यक है।

स्वाध्याय किस का और क्यों ?

"नास्ति वेदात्परं शास्त्रम्" वेद से बढ़कर अन्य कोई शास्त्र या ग्रन्थ नहीं है, "वेदश्चक्षुः सनातनम्" सनातन=सबसे प्राचीन

चक्षुः=ज्ञान-विज्ञान का स्रोत वेद ही है। 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'(वै. ६।१) वेद का एक-एक वाक्य बुद्धिपूर्वक है, एक भी शब्द विपरीत नहीं। अतः स्वाध्याय वेदों का ही करना चाहिये। मनु जी ने लिखा है—

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परमं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

आलस्य और प्रमाद को छोड़कर नियत काल में नित्यप्रति वेदों का स्वाध्याय करना चाहिये, क्योंकि यही परम धर्म है, शेष उपधर्म है। महर्षि दयानन्द जी ने भी वेदों के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने को परम धर्म बतलाया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि भी यही लिखते हैं —ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" अर्थात् सांगोपांग वेद का पढना और जानना ब्राह्मण का निष्कारण= स्वार्थादि से रहित धर्म है। यहाँ ब्राह्मण का ग्रहण सब वर्णों में मुख्य होने के कारण किया है अतः मनुष्य मात्र का ही वेदाध्ययन परम धर्म है।

वेद और वेदानुकूल अन्य ग्रन्थों का ही स्वाध्याय करना चाहिये। जो ग्रन्थ वेद-विरुद्ध हैं वे सर्वथा त्याज्य हैं।

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥म० १२।५९

जो ग्रन्थ स्मृति शास्त्रादि वेदविरुद्ध हैं वे सब निष्फल और तमोनिष्ठ=अज्ञानान्धकाराच्छादित होने के कारण छोड़ देने चाहियें। वेदविरुद्ध ग्रन्थों के पठन से कोई लाभ नहीं, हानि ही होती है। महर्षि मनु और कूर्म-पुराण ने वेद के न पढ़नेवाले को मूढ़, शूद्र और समाज से बहिष्कृत बतलाया है।

अनार्ष, अश्लील, उपन्यास, नाटकादि को पढ़नेवाला कभी

भी ब्रह्मचारी या सदाचारी नहीं रह सकता। ऐसे शृङ्गार रस के दूषित ग्रन्थों का पढना अपने घर में स्वयं आग लगाना है, अश्लील ग्रन्थों के पढ़ने से ब्रह्मचारी भी व्यभिचारी बन जाता है, साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या है।

महर्षि दयानन्द जी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश में पठन-पाठन विधि के अन्तर्गत संक्षेप से पाठ्य तथा अपाठ्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है उनमें से कुछ यहां भी लिखे जाते हैं, विशेष विवरण सत्यार्थप्रकाश और संस्कार विधि में पढ़ना चाहिये।

"अब जो परित्याग के योग्य ग्रन्थ हैं उनका परिगणन संक्षेप से किया जाता है अर्थात् जो-जो नीचे ग्रन्थ लिखेंगे वह-वह जाल ग्रन्थ समझना चाहिये। व्याकरण में कातन्त्र, सारस्वत, चन्द्रिका, मुग्धबोध, कौमुदी, शेखर, मनोरमादि। कोश में अमरकोशादि। छन्दोग्रन्थ में वृत्तरत्नाकरादि। शिक्षा में अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा इत्यादि। ज्योतिष में शीघ्रबोध, मुहूर्त्तचिन्तामणि आदि। काव्य में नायिकाभेद, कुवलयानन्द, रघुवंश, माघ, किरातार्जुनीयादि। मीमांसा में धर्मसिन्धु, व्रतार्कादि। वैशेषिक में तर्कसंग्रहादि। न्याय में जागदीशी आदि। योग में हठप्रदीपिकादि। सांख्य में सांख्यतत्त्वकौमुद्यादि। वेदान्त में योगवासिष्ठ पञ्चदश्यादि। वैद्यक में शार्ङ्गधरादि। स्मृतियों में मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और अन्य सब स्मृति, सब तन्त्र ग्रन्थ सब पुराण, सब उपपुराण, तुलसीदासकृत भाषा रामायण रुक्मिणीमंगलादि और सर्वभाषाग्रन्थ ये सब कपोलकल्पित मिथ्या ग्रन्थ हैं।

प्रश्न—क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं ?

उत्तर—थोड़ा सत्य तो है परन्तु इसके साथ बहुतसा असत्य भी है इससे 'विषसम्पृक्तान्नवत्त्याज्याः' जैसे अत्युत्तम अन्न विष

से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है वैसे ये ग्रन्थ हैं।"

(सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास)

स्वाध्यायोपयोगी ग्रन्थ

ऋग्, यजुः, साम, अथर्व चार वेद, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थवेद ४ उपवेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ६ वेदांग, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व-मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त) ६ दर्शन अर्थात् उपांग, ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ४ ब्राह्मणग्रन्थ, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक १० उपनिषद्, मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत इत्यादि सब ऋषि-मुनिकृत ग्रन्थ हैं इनमें भी जो-जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो उस-उस को छोड़ देना चाहिये, क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही से होता है ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परतः प्रमाण अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है।

इन प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त ऋषि दयानन्दकृत वेदभाष्य सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका व्यव-हारभानु, आर्याभिविनय, गोकरुणानिधि, अर्योद्देश्यरत्नमालादि सभी ग्रन्थ तथा आधुनिक धार्मिक विद्वानों के उत्तमोत्तम ग्रन्थ, सिद्धान्त, राजनीति, समाजशास्त्र नागरिकशास्त्र, शिल्पविद्या आदि विषयों पर श्रेष्ठ अनश्लील ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये।

संसार के सभी महापुरुषों के जीवनचरित्र विशेषतया पठ-नीय हैं, इनके स्वाध्याय से जीवनोत्थान में विशेष सहायता मिलती है।

आर्षग्रन्थों का महत्त्व

आर्ष-ग्रन्थ सब सत्य सरलता के सांचे में ढ़ाले हैं।
जनजीवन को अमर बनाते, सौम्य-सुधा के प्याले हैं ॥

आर्ष अनार्ष ग्रन्थ भी एक जटिल प्रश्न है, आर्ष क्या है और अनार्ष क्या ? इसका साधारण उत्तर यही है—'ऋषिभिः प्रोक्तमार्षम्'' जो जो ग्रन्थ ऋषियों द्वारा प्रोक्त=कथित या लिखित हैं वे सब आर्ष हैं। किन्तु आजकल ऋषियों के नाम से भी धूर्त स्वार्थियों ने अनेक पाखण्ड पोथे रच डाले हैं अतः इस परिभाषा को इस प्रकार समझें—"ऋषिभिः प्रोक्तमार्षम्, वेदानुकूलश्चेत्'' ऋषियों द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ आर्ष हैं, वे भी तभी जब कि वेदानुकूल हों, विरुद्ध नहीं। आर्ष-अनार्ष ऋषि अनृषि के विषय में विस्तारभय से यहां अधिक नहीं लिखा जा सकता, फिर कभी अन्यत्र लिखा जायेगा।

आर्ष-ग्रन्थों का महत्त्व क्या है और उनको क्यों पढ़ना चाहिये इस विषय में सुधारकाग्रणी महर्षि दयानन्द जी महाराज के ही वचन यहां उद्धृत किये जाते हैं—

"ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इसलिये पढ़ना चाहिये कि वे बड़े विद्वान् सब शास्त्रवित् और धर्मात्मा थे, अनृषि अर्थात् जो अल्प शास्त्र पढ़े हैं और जिनका आत्मा पक्षपात सहित है उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।''

"क्योंकि जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है ? महर्षि लोगों का आशय, जहां तक हो सके वहां तक, सुगम और जिसके ग्रहण करने में समय थोड़ा लगे इस प्रकार का होता है और क्षुद्राशय

लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहां तक बने वहां तक कठिन रचना करनी जिसको बड़े परिश्रम से पढ़के अल्प लाभ उठा सकें, जैसे पहाड़ का खोदना कोड़ी का लाभ होना। और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना बहुमूल्य मोतियों का पाना।"

(सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास)

उपहसांर

पाठक वृन्द! इस 'सत्संगस्वाध्याय' ग्रन्थमें सत्संग कुसंग के लाभ हानि महत्त्वादि तथा स्वाध्याय की आवश्यकता, स्वाध्याय का अर्थ, स्वाध्याय की महिमा, स्वाध्याय के लाभ, स्वाध्याय का क्रम इत्यादि सभी आवश्यक विषयों पर सप्रमाण प्रकाश डाला गया है किन्तु हमारे लिखने और आपके पढ़ लेने मात्र से ही कार्य पूर्ण नहीं हो जाता है, लिखना तभी सफल होता है जब तदनुसार आचरण किया जाता है, क्रिया करने से ही फलवती होती है, मिश्री शब्द के उच्चारण से मुंह मोठा नहीं होता वा निर्मल (कतक) का नाम लेने से ही जल शुद्ध नहीं हो जाता। अतः गुण अवगुणों को विचार कर गुणों का ग्रहण एवं अवगुणों का त्याग कर देना चाहिये।

यदि किसी विषय कों या कार्य को उत्तम जानकर स्वीकार कर लिया है, यदि वास्तव में उत्तम है तो उस अंगीकृत कर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिये, इसी में सफलता निहित है। भर्तृहरि जी ने लिखा है—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

सब से निकृष्ट व्यक्ति वे होते हैं जो विघ्न-बाधाओं के भय से श्रेष्ठ कार्यों का प्रारम्भ नहीं करते, मध्यम कोटि के व्यक्ति कार्य को प्रारम्भ कर आपत्तियों से घबराकर बीच में ही छोड़ देते हैं किन्तु उतम पुरुष वे होते हैं जो सब विघ्न-बाधाओं को पार करते हुये अपने लक्ष्य की सिद्धि कर लेते हैं ।

प्रभु ने हमें यह मनुष्ययोनि उन्नति करने के लिये दी है, अवनति के लिये नहीं, स्वयं वेद भगवान् कहता है—

"उद्यानं ते पुरुष नावयानम्" हे पुरुष तू उन्नति कर, उत्तम बन, उत्तरोत्तर कल्यण मार्ग का पथिक बनता हुआ, मोक्षानन्द को प्राप्त कर, 'नावयानम्' अवनति के गर्त में न गिर, देख ! कहीं तेरा अधः पतन न हो जाये । पहले से ही सावधान रहना अच्छा है, गड्ढे में गिरकर वैसा का वैसा निकलना कठिन हो जाता है । बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम अवनति की ओर एक भी पांव न रखकर सदा उन्नति ही करते जावें ।